यों भी तो देखिए !



वियोगी हरि



१९५७

सस्ता साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक,

मार्तण्ड उपाध्याय,

मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

दूसरी बार : १९५७

मूल्य

एक रुपया

मुद्रक

उद्योगशाला प्रेस,

दिल्ली

प्रकाशकीय

श्री वियोगी हरि से हिन्दी के पाठक भली भाँति परिचित हैं। वह एक उच्चकोटि के लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक उन्हींके कुछ लेखो का सग्रह है। इन लेखो की सबसे बडी विशेषता यह है कि ये एक विशेष शैली में लिखे गये हैं। उन्हे पढकर पाठको को सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है। कुछ रचनाओ में तो बड़ा ही तीखा व्यंग्य है। कवि, लेखक, कलाकार, चित्रकार, प्रचारक, राष्ट्रकर्मी, ग्रामोद्धारक, नेता, शासक, शिक्षक आदि-आदि को पृथक्-पृथक् सबोधन करके उन्होंने अपनी बात बडे प्रभावशाली ढग से कही है। लेकिन लेखक ने जो कुछ कहा है, उसके पीछे किसी प्रकार की दुर्भावना नही है, बल्कि वह चाहता है कि हमारे समाज का प्रत्येक अंग, अपने स्वय के जीवन से, एक आदर्श उपस्थित करे।

यह पुस्तक पाठको को पर्याप्त विचार-सामग्री प्रदान करती है। इसका पहला सस्करण 'मेरी हिमाकत' नाम से प्रकाशित हुआ था, लेकिन उससे पुस्तक की मूल भावना का बोध शायद सही-सही ढग से नहीं होता था। इसलिए उसे बदलकर 'यो भी तो देखिए' नाम रख दिया गया है।

हमें विश्वास है कि पुस्तक की लोकप्रियता पहले से भी अधिक होगी और हिन्दी-जगत् में इसका व्यापक रूप से प्रसार होगा।

—मत्री

दो शब्द

इन लेखो मे समाज के कतिपय धुरीणो का सीधा-सादा दर्शन भी मैंने व्यग्यात्मक या तिरछे-टेढे दृष्टिकोण से किया है। रास्ता तो टेढा-मेढा पकडा, और गुस्ताखी कर बैठा सीधे लक्ष्य पर पहुँचने की !

परिष्कृत या अविकृत आखिर क्या होगा इस ऊहापोह ने ऐसी जगह उठाकर फेक दिया, जहाँ, आशा यह है कि, यह दृष्टि शायद वाचालता का मुहँ बन्द करदे, और जीवन-शोध का शायद कोई नया ही दर्शन हो सके।

विज्ञापन ने 'असत्' को जो प्रतिष्ठा का ऊँचा पद दे रखा है, उसे देखकर तो कभी-कभी मन मे एक प्रकार की सुखद निराशा का सचार होने लगता है। 'प्राचीन' अभी कलतक कितना महँगा आँका जाता था, उसे आज क्यो इतना सस्ता कर दिया गया है, यह प्रश्न न जाने किस बुरी घडी मे उठा। 'अर्वाचीन' मीठा तो लगा, पर उस मिठास के अदर जैसे कुछ तीखापन था। उससे भी व्यजना को कुछ उत्तेजन ही मिला।

समझ लिया जाये कि अल्पसख्यक व्यग्य के लक्ष्य नही बन पाये। जान मे या अनजान मे वे सभी जगह बच जाते है। कौन-सा सिद्धान्त है, जिसमे कोई-न-कोई अपवाद दाखिल न हो जाता हो ? और इन्ही कम-बख्त अपवादो की बदौलत मानव-जीवन की मूल सात्त्विकता 'छुईमुई' मे परिणत होने से बची है। उनकी स्तुति के लिए वैसी वाणी या लेखनी कहाँ से लाऊँ ?

: २ :

इन व्यंग्यात्मक लेखो का सग्रह सन् १९४२ मे 'मेरी हिमाकत' के नाम से प्रकाशित हुआ था। यह दूसरा सस्करण नये नाम से आ रहा है—'यो भी तो देखिए' इस नाम से। कहा जा सकता है कि यह दूसरी हिमाकत हुई, शायद कुछ ज्यादा साफ ; इसलिए कि जिस सीधी-सादी दृष्टि से देखने के लोग आदी रहे हैं, उसे थोडा ताक पर रखकर दूसरे ही दृष्टिकोण से देखने के लिए पूछा गया है।

बहुत-कुछ सशोधन कर दिया है—कई वाक्यो मे, और जहाँ-तहाँ भाषा मे भी। कुछ-कुछ कई जगह मैंने जहाँ कुछ जोडा-जाडा है, वहाँ पहले के कुछ वाक्यो और हिस्सो को काटा भी है।

हरिजन-निवास, दिल्ली
१५ अगस्त, १९५७

वियोगी हरि

विषय-सूची

यों भी तो देखिए !

कवि से

कवि ! सुना है कि तुम्हारे इस 'कवि' शब्द से मनीषी, परिभू, स्वयंभू आदि कितने ही ऊँट-पटाँग अर्थो का बोध कतिपय प्राचीनकालीन मस्तिष्को से आविर्भूत हुआ था।

और, इन सारे ही विचित्र, बल्कि अपमानद्योतक अर्थो को, जान पडता है, तब के कुछ अपरिपक्व कल्पनाधारी कवियो ने स्वेच्छा से ग्रहण भी कर लिया था।

वह शायद वह युग रहा होगा, जब कि 'रस' पूरा पक या जम नही पाया था। रस का तब शायद एकदम तरल रूप रहा होगा।

तो ऐसी अस्थिर अवस्था मे वह कवि तब 'केवल कवि' कैसे हो सकता था ? तव का अप्रौढ कवि तो मनीषी, परिभू, स्वयभू आदि अद्-भुत नामधारी ही प्राणी हो सकता था।

यही कारण है कि उपनिषद्कारो को कवि कहते हुए तुम्हे सकोच होता है। 'रसो वै स' का गीत गानेवाले अरण्यवासी प्रकृति-पूजको को काव्य-रस के परिपूर्ण परिपाक का अनुभव भला कैसे हो सकता था ?

क्रौच-वध से प्रेरणा पाकर वह वाल्मीकि भी अधिक-से-अधिक 'आदि-कवि' ही तो रहा, 'केवल कवि' न वन सका; क्योकि उस प्रेरणा मे कोई गहरा रहस्य तो अन्तर्निहित था नही।

उस प्रेरणा के मूल मे तो कोरी करुणा ही थी,—रस की वही तरलता, वही अपरिपक्वता। और इसी कारण आदिकवि अपने काव्य को एक व्यक्त आदर्श के महिमा-गान के परे न ले जा सका। तुम्हारी व्याख्या के 'अव्यक्त' की अनूठी सृष्टि वह सामान्य लोक-कवि रच ही कैसे सकता था ?

फिर वाल्मीकि तो तप साधना करते-करते मिट्टी का ढेर वन गया था। ऐसे मिट्टी के ढेर मे मे अलौकिक रहस्य-धारा का फूट निकलना सभव कहाँ था ? तभी तो आदर्श मानव की सामान्य-सी कल्पना के आगे वेचारा आदिकवि जा नही सका।

और इसी तरह, वह पुराण-व्यास भी लोक-सग्रह के फेर मे पडकर तुम्हारी अपनी परिभाषा का कवि न वन सका।

कवि तो इनके वाद प्रादुर्भूत हुए। प्रौढ, पक्के और 'केवल कवि' इन-जैसो के पीछे ही प्रकटे।

हाँ, कवि तुम हो, और तुम 'केवल कवि' हो, आदर्श से तुम्हारा दूर का भी रिश्ता नही। मानव के प्रति तुम्हे कोई कर्त्तव्य नही, कोई बन्धन नही, लोक-सग्रह की कोई अपेक्षा नही।

विना ही किसी निर्दिष्ट उद्देश्य के तुम शब्द-सृष्टि रचते रहते हो। भय है तुम्हे कि उद्देश्य और उपयोग के भद्दे मेल से कवि की अनूठी सृष्टि

कही दूषित न हो जाये।

जगत् के सामान्य प्रश्नो से तुम्हे कोई प्रयोजन नही; तुम्हारी कवि-मतह से वे प्रश्न बहुत नीचे हैं; उन्हे छूने का निरर्थक प्रयास करना कवि का कर्म नही। तुम्हारा 'काव्य-मानव' या 'अति मानव' तो खालिस कल्पनाओ का उडन पुतला है। और कल्पनाएँ भी वे कैसी ? पारद की तरह तरल, शश-शृंग की भांति अलौकिक।

विकास-शून्य उस पुराकाल मे तब कदाचित् यह शोध हुई होगी, कि जिसकी वाणी से चारित्र्य परिशुद्ध होता हो, उसे ही कवि माना जाये।

तुम्हारे मत से तो यह व्याख्या और चाहे जिसकी हो, किंतु कवि की तो हो ही नही सकती। कारण, वह अपने कल्पित मानव मे जब एक भी अशुद्धि नही देखता, तब उसे स्वकीय सृष्टि के मानव के चारित्र्य-शोधन की आवश्यकता ही क्या ?

तुम्हारा काम तो मनोविकारो को उत्तेजित करदेना मात्र है। तुम्हे पसन्द नही कि मनोविकार योहो सोते रहे या शिथिल पडे रहे। उनको तो तुम सतत जाग्रत और सक्रिय ही रखना चाहते हो।

अपनी शब्द-रश्मियो से कभी तो तुम काम-वृत्ति को सतेज कर देते हो, कभी लोभ-वृत्ति को और कभी क्रोध-वृत्ति को। तुम्हारी दृष्टि मे शायद विकारोत्तेजन का ही नाम रस-परिपाक है।

मानना पडेगा कि तुम सोये हुए को जगा देते हो और जागे हुए को सुला देते हो। तुम्हारी ये दोनो ही प्रक्रियाएँ मनोरम है और भयकर भी।

तुम्हारे काव्य-जगत् मे पहुँचकर मनुष्य कैसा आकुल हो उठता है। अस्वाभाविक गति से हृदय उसका धडकने लग जाता है। आँखो से या तो चिनगारियाँ छूटने लगती है, या उनपर खुमारी छा जाती है, या फिर उनमे पानी बहने लग जाता है। तुम उसकी कैसी सुन्दर अवस्था कर देते हो, कवि !

तुम्हारी कवि-दृष्टि मे ऐसा उत्तेजित, विक्षिप्त, अस्वस्थ मनुष्य ही 'रसिक' कहा जाता है। ऐसा रसिक प्राणी तुम्हे अतिशय प्रिय होता है।

अरसिक अर्थात् सामान्य स्वस्थ मनुष्य का तुम मुँह भी नही देखना चाहते। अरसिको के आगे कविता सुनाना तुमने किसी पूर्वकृत पाप का कुफल माना है।

तुम्हारी रुचिकर रचना सुनकर जो आत्म-विकल या अस्वस्थ नही हो जाता, उसे तुम पशु या पाषाण से भी गया-गुजरा समझते हो।

सदा तुम काव्य-रसिको की ही खोज मे रहते हो। जब वैसा कोई गुणग्राहक मिल जाता है, तुम उसे अपनी एक के बाद एक कविता सुनाने लग जाते हो, वाणी तुम्हारी जैसे बाँध तोड देती है। तुम उसके चेहरे के उतार-चढाव की ओर निरखते जाते हो कि वह तुम्हारे कविता-पाठ से मनोवाछित रस ले रहा है या नही। तुम्हारे जिस पद या पक्ति पर वह मुग्ध हुआ प्रतीत होता है, उस सरस पद या पक्ति को तुम उसे बार-बार झूम-झूमकर सुनाते हो।

उसके श्रीमुख मे झरते हुए मादक शब्द क्या अफीम का काम नही देते है? तुम्हारे सामने एक अद्भुत चित्रपट-सा खडा हो जाता है,—तुम स्वप्न-सा देखने लग जाते हो कि तुम्हारी कविता मुशान्त वृद्धो के भी अतर मे यौवन-मधु का घोर सचार कर रही है, समस्त प्रकृति वासना-रस से उद्वेलित हो उठी है, अथवा भक्ति के रस-सागर मे विश्व डूबता जा रहा है, या सारा उठा हुआ राष्ट्र विप्लव की प्रलय-ज्वालाएँ उगल रहा है और पुराने-धुराने समाज की काया अकल्पित वेग से पलटती जा रही है।

यही कारण है कि तुम अपनी नई-नई रचनाएँ सुनाने को सदा आकुल-व्याकुल रहते हो। कितने ही जरूरी काम से कोई कही जा रहा हो तुम अपनी एक-दो कविताएँ तो हठपूर्वक उसे रास्ते चलते-चलते भी सुना देते हो। कोई भी काल हो, कोई भी स्थान हो,यदि वह प्राणी रसिक है, तो उसका पिड तुम कविता सुनाये बगैर छोड नही सकते।

और, तुम्हारे प्रशसक भी तो प्रशसा के पात्र है, जो तुम्हारी कवि-ताओं में से ऐसे-ऐसे गूढ़ अर्थ निकाल लेते है जिनकी कदाचित् तुम्हेंभी

कभी कल्पना न उपजी हो। तुम्हारी अनावरण शृंगार-सृष्टि में वे कभी अध्यात्म का दिव्य दर्शन करते हैं, तो कभी क्रोध, द्वेष और अहंकार के उद्दीपन में स्वदेश-प्रेम का।

आश्चर्य तुम्हें होना ही चाहिए, जब तुम देखते हो कि जनसाधारण में ऐसी कविताएँ भी बड़े चाव से सुनी और गाई जाती हैं, जिनमें न तो कोई अनोखा भाव होता है, न अजीब-अजीब उक्तियाँ, और न अलंकार-युक्त सुललित भाषा ही, और जिनमें व्याकरणतक की टाँग टूटी होती है, छन्द शास्त्र का पालन तो वहाँ गुनाह है। फिरभी ऐसी-ऐसी भद्दी चीजों अर्थात् लोकगीतों और संत-वाणी ने आम जनता में अधिक आदर पाया है! पर ऐसी भौंडी कविताओं ने ज्यादातर देहात के अनपढ लोगों को ही विमोहित किया है।

कवि! ऐसे लोगों की दुर्भाग्यपूर्ण अरसिकता को देखकर तुम्हें मन में हँसी ही आती होगी, जो उन साखियों और सबदों के अटपटे साँचे में अपना सुन्दर सरस जीवन ढालना चाहते हैं। मन-ही-मन तुम कहते होगे कि बूढ़े विधाता ने उन ग्रामीणों को रस, कला और सौन्दर्य परखने की अक्ल आखिर क्यों नहीं दी!

लेकिन ऐसी बात नहीं कि तुम रुष्ट होकर ग्राम्य जनता के जीवन को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हो। नहीं, कभी-कभी तुम्हारी कल्पना अपने सुनहरे परों से ग्राम्य जीवन का भी स्पर्श कर लेती है। मगर दुर्भाग्य उसका कि तुम्हारे सुकोमल मधुरस्पर्श का उसे भान भी नहीं होता। तुम्हारी ग्राम्य सुकुमार कल्पना उसे छूकर भी उससे सर्वथा अछूती ही रहती है।

वहाँ श्रम के गीत तो तुम गाते हो, पर उसे अपनाते नहीं, हल और खेत को तुम चितेरते ही हो, पर उसे जोतते-काटते नहीं; चरखे को तुम वाणी से पूजतेभर हो, उसपर कातते नहीं।

सिवा इसके कि वे जोतते या कातते हुए रचते या गाते थे, ग्राम-गीतों और भजनों में और खूबी ही क्या है?

तारीफ तो इसमे है कि तुम बिना हाथ-पैर हिलाये, हृद्गत भावो के उफान से सद्य प्रेरणा पाकर, नित्य नई-नई कविताएँ रचते रहते हो।

तुम ऐसा मानने से दृढतापूर्वक इन्कार करते हो, कि तुमसे और तुम्हारी कृतियो से दुनिया तृप्त हो गई है या ऊब गई है।

तुम्हारा कवि-कुल दिन-दिन अभिवृद्धि को प्राप्त होता जा रहा है, तुम्हारी नई-नई कृतियो के ढेर लगते जा रहे है,—इससे तो यही लगता है कि तुम्हे अबभी विराट् उत्पादन का अभाव प्रतीत होता है।

तुम्हारी राय मे लोगो को कविता के मादक मधु का रसास्वादन ही अविराम गति से करते रहना चाहिए। तुम गाते हो कि कविता-श्रवण, कविता-पाठ और कविता-लेखन ही सृष्टि का एकमात्र उद्देश्य है।

तुम्हे धरती पर पैर घसीटनेवाले मानव का कुरूप पसन्द नही पडा, अत तुम डालो पर फुदकने लगे और आकाश मे विहरनेवाले सुनहरे पखोवाले विहग बन गये। श्रमजीवी मानव ईर्ष्यापूर्वक आश्चर्य करता है कि तुम कविता के रग-बिरगे पन्नो को फाडकर उसके साथ पसीना क्यो नही बहाते !

मूढ श्रमजीवी वह तुम्हारी रहस्यपूर्ण साधना को क्या समझे। जब तुम रचना करने बैठते हो, उस समय की तुम्हारी ध्यानावस्थित या कभी-कभी विक्षिप्त-सी मुखमुद्रा देख बेचारा हकबका जाता होगा। तुम्हारी साधना यह सतत चलती है, खडे-खडे, बैठे-बैठे और चलते-चलते भी तुम्हारी रचनाएँ नूतन जन्म ग्रहण करती रहती है।

तुम्हारी साधना की कद्र न करनेवाले निश्चय ही नर-पशु है। श्रम-साधक, भला, रससिद्धो की असीम महिमातक कैसे पहुँच सकते है! कहाँ तो समृद्ध कलाकार, और कहाँ वे दरिद्र धान्यकार !

कवि ! तुम 'केवल कवि' हो इतना ही तुम्हारे स्तुति-गान के लिए पर्याप्त है।

कलाकार से

उस दिन एक पर्ण-तृण-शून्य टीले पर खडा-खडा मै अपने इस औंधे घडे को मौज मे बजा रहा था। देखकर तुम्हारे कलाकार साथियो को उसमे कुछ कुतूहल-सा लगा। और वे लगे पूछने—"इस औंधे घडे मे तुझे ऐसा क्या सुन्दर दीखा, जो मस्ती मे झुम-झूमकर तू इसकी खोपडी पर इस तरह कर्ण-कटु ताल दे रहा है ?"

जवाब था मेरा,—"भगवान् बुद्ध के सवादो के अन्त मे प्राय आता है न, कि 'जैसे औधें घडे को सीधा कर दिया'? वाक्य यह वहाँ शका-समाधान के अर्थ मे दोहराया जाता था न ? मै इस घडे पर इसलिए अगुलि-प्रहार करता हूँ कि सदा यह औधा ही बना रहे—कभी सीधा न हो जाये। नही तो ज्ञान-सचारिणी सारी ही शकाओ का एकदम समाधान हो जायेगा।"

शका का समाधान या निवारण आखिर हो क्यो? कलाकारो! शका के चिरअस्तित्व मे ही तो तुम्हारी कला की सारी समृद्धि निहित है। शका के श्मशान पर कला भला कभी फूली-फली है ?

शका मे जो अस्पष्टता होती है, उसमे जो वक्रता दीखती है, वही तो कला की जान है।

घडे को यदि मै सीधा करदूँ, तो शकाओ का विलय हो जायेगा, अस्पष्टता खुल जायेगी, वक्रता मिट जायेगी। स्पष्टता और सरलता की भित्ति पर फिर तुम्हारी यह कला एक क्षण भी न टिक सकेगी। अत तुम्हारे हक मे वह स्वागत की वस्तु नही। कला तुम्हारी आबाद रहे, इसीलिए मै घडे की औंधी खोपडी पर अगुलि-ताडन कर रहा हूँ। मेरी ऐसी कल्याणकारिणी प्रक्रिया को तुम अपनी कला के हित मे बाधक समझ बैठे हो,—कितने आश्चर्य की बात है यह !

सुना था कि पोषण-प्रक्रिया मे कला का स्पष्ट दर्शन होता है, पर मुझे तो उसका सम्पूर्ण दर्शन शोषण-प्रक्रिया मे हुआ। जाडे के दिनो मे घी तुम घडे में से टेढ़ी अँगुलियो से ही निकालते हो—सीधी अँगुलियो से कभी शोषण हुआ है ? अत. वक्रता मे ही कला का पूर्ण विकास होता है।

समन्वय के इस युग मे राजनीति और कला के बीच कोई विशेष अन्तर नही रहा। रहा होगा कोई प्रागैतिहासिक युग, जब राजनीति तो एक अलग रास्ते जाती होगी, और कला किसी दूसरे रास्ते ही। तब शायद रगा उपयोगितावाद के धूमिल दर्पण के सामने खडी होकर अपना अजीब-सा सौन्दर्य निहारती होगी। तब कला का अन्तर सरल-तरल रहा

होगा, प्रौढतम कलाविदो की भाषा मे 'सडा-गला'। अत कला तब भौंडी-सी ही रही होगी, आजकी-सी सुघर-सलौनी नही।

जैसे राजनीति मे सीधे बात करना गुनाह है, वैसे ही कला मे पेचीदा मार्ग से हटना बेढगापन है।

उपयोगिता मे तुम्हारी कलाओ का सदा असहकार-सा ही रहा है। तुम्हारा प्रश्न है कि सिगरेट के धुएँ का शून्य अन्तरिक्ष मे समा जाना क्या कोई प्रयोजन रखता है? उपयोगिता क्यो टाँग अडाये धूम्र की निरुद्देश्य शून्य-पथ की अनन्त यात्रा मे?

उपयोगिता के पैरो मे जो लोग जमीन पर सीधी-सादी गति से चलते है, उन्हे तुम्हारी कला के सुनहरे पख उपहास की अँगुलियो से छुएँ तो किसीके नाराज होने की ऐसी क्या बात?

कलाकारो! सामान्य जनसमाज पर तुम हरगिज रहम न खाना। पर वह तुम्हारा अपराधी साधारण समाज अपने ठोस पैरो को कैसे काट डाले? और कैसे उगाले रुपहरे-सुनहरे पख अनन्त अन्तरिक्ष-पथ पर रहस्यमयी उडान भरने के लिए? यह भद्दा-सा मानव आखिर कैसे स्वप्न का स्वर्ण-विहग बन जाये?

तुम्हे तो सभी कुछ टेढा-ही-टेढा चाहिए न? तुम्हारी स्थापत्य-कला मे सैकडो ही टेढे-मेढे प्रस्तर-खण्ड चाहिएँ। तुम्हारी चित्र-कला मे मानव-आकृतियाँ टेढी-तिरछी उलझी हुई ही होनी चाहिएँ। विधाता की सृष्टि मे कला को सँवारते-सुधारते तुम कभी थकते भी नही। तुम्हारी काव्य-कला के लिए भी टेढे भाव और टेढे शब्द होने चाहिएँ। तुम्हारी ये ललित कलाएँ न सीधी है, न बिल्कुल गोल। उनमे अनेक कोण है, किसी-भी मोड से चाहे जो अर्थ-दर्शन किया जा सकता है।

तुम कलाकारो मे से कोई-कोई जीवन जीने को ही कला मान बैठे है। किंतु जीवन कोई प्रकट-सी चीज तो है नही। अथवा, उसे कला के टेढे-मेढे साँचे मे ढालकर जटिल बना दिया गया है।

कहते है, विश्वामित्र ने अपनी एक अलग ही सृष्टि रच डाली थी।

तुम कलाकारो ने भी तो अपनी निराली सृष्टि रची है, और तुम्हारे कल्पना-गर्भ मे अबभी कितनी ही अभिनव सृष्टियो के बीज छिपे पडे है। विश्वामित्र की सृष्टि की कुछ वस्तुएँ, कहते है, आजभी विकृत अवस्था मे देखने मे आती हैं। नारियल शायद उसी सृष्टि-सस्करण का एक अवशेष है, और वह खासा उपयोगी है। मानव ही नही, देवता भी उसे लालचभरी दृष्टि से देखते है। पर तुम्हारी सृष्टि का अवशेष वैसा भी कोई देखने मे नही आया। अनन्त अन्तरिक्ष मे विहार करनेवाले ये धुएँ के फव्वारे अजन्ता की जीर्ण दीवारो पर विचित्र अँगुलियो का भले ही इन्द्रजाल बुना करे, किन्तु जटा-जूटधारी ऋषिकल्प नारियल ने अपना जो स्थान नर-समाज एव देव-समाज मे स्थापित कर रखा है, वह तुम्हारे उलझानेवाले इन धूम्रजालो की अँगुलियो या निर्देशो मे नही मिलता।

कुदाली-फावडे की उछल-कूद को भी तुमने कभी कोई कला माना है? तुम्हारी दृष्टि मे हल का चित्राकण कला-कृतियो मे प्रतिष्ठा का स्थान नही पाता,—यद्यपि मजदूर और किसान की पथरीली छाती पर सवार होकर तुम्हारी ललित कलाएँ कभी-कभी 'ग्रामो की ओर' भी एकाध चक्कर काट आती है।

कभी किसी युग मे गाया जाता था—'सत्यता मे सुन्दरता देखो, सरलता मे सुन्दरता देखो, प्रामाणिकता मे सुन्दरता देखो।'

सुन्दरता का रूप-दर्शन अपनेसे बाहर कब करते थे तब? सुन्दरता तब शायद नीति की कोई सखी-सहेली रही होगी।

पर आज तो कला के मनोमोहक द्वार पर नीति वह एक अपरिचिता-सी, अजनबी-सी खडी है। तुम्हारी कला इस अजनबी मेहमान का आतिथ्य करेगी, या शून्य-पथ मे ही निरुद्देश्य चक्कर काटती रहेगी?

किंतु यह तो शकाओ का समाधान होने-जैसी बात हुई। तुम्हारी दुनिया मे तो घडे का औंधा रहना ही अच्छा है, कलाकार!

चित्रकार से

चित्रकार! तुम्हारी इन सुकुमार लचीली अँगुलियों में सचमुच गज़ब की शक्ति है, और इनका सदुपयोग भी तुम उदारतापूर्वक अधिक-से-अधिक कर रहे हो।

तुम्हारी इन कुशल अँगुलियों ने दृश्य का, कल्पना का और कला का यह अत्यन्त आकर्षक जाल बुना है। तुम्हारे इस जाल में आ फँसने के लिए अच्छे-अच्छे नेत्रवान प्रतिस्पर्धा करते हैं।

प्रतिकृति मे तुम वास्तविक आकृति को अनूठी कुशलता से उतार देते हो, वल्कि कभी-कभी तो अपनी निर्मित प्रतिकृतियो को ही तुम वास्तविक समझ वैठते हो, अथवा अवास्तविक के आगे वास्तविक को भी तुम भूल जाते हो ।

वास्तविक जगत् को सचमुच तुम चित्र-पट्ट के आगे कोई खास महत्त्व नही देते, तुम्हारी दृष्टि मे कला का फलितार्थ भी वस्तुत. यही है।

कुछ क्षणो के लिए जगत् के रग-विरगे विविध दृश्यो के साथ अवश्य तुम्हारा तादात्म्य हो जाता होगा । तूलिका द्वारा कागज पर उतारकर उन्हे तुम भूल जाते हो। तुम्हारी इस अनासक्त योग-साधना का जितना भी बखान किया जाये, थोडा है ।

टेढी-सीधी रेखाओ और रगो मे तुम कुछ ऐसे तन्मय और तदाकार हो जाते हो कि दुनिया की गति-विधि का तुम्हे भान भी नही रहता। वर्षा के अभाव मे खेत जब सूखते-झुलसते होते है, तब रमणीय उद्यानो और सरोवरो के सुन्दर दृश्य चित्रित करने मे तुम ध्यानस्थ रहते हो। या, वे झोपडियाँ जब धायँ-धायँ जलती होती है, तब तुम अजता या ताज-महल के चित्राकण मे समाधिस्थ हो जाते हो ।

कुछ भी हो, कला की उत्कृष्ट साधना तुम्हारी निर्वाध गति से सतत चलती ही रहती है । कारण, तुम्हारी कला वह केवल कला के लिए होती है, स्थूल जगत् के साथ तो उसका धुँधला-सा केवल चित्रगत ही सम्बन्ध रहता है ।

तुम्हारे कला-दर्शन मे सामान्य आँख काम नही देती । तुम कहते हो कि पूरी खुली आँखो से कला का यथार्थ दर्शन नही होता, अत पलको को अवश्य आधा गिरा देना चाहिए—अर्द्धोन्मीलित आँख ही वहाँ अधिक काम देती है । पर शायद यह भी एक ख़याल ही है । असल मे, कला-दर्शन की आँख तो कुछ और ही आकार-प्रकार की होती होगी ।

देखा है कि सामान्य मानव की खुली या अधमुँदी आँख को तुम्हारे

चित्र की आडी-टेढी रेखाएँ विचित्र-सी ही दीखती है—तुम्हारी रहस्यमयी कला की कद्र करनेवाले जिस आकृति को सुन्दर और आकर्षक कहते है, सामान्य आँख को वह विरूप और अटपटी-सी दिखाई देती है। उस आश्चर्यविमूढ दर्शक के मन मे होता है कि उसके सजातीय मानव की आँखे किसी युग मे ऊपर को तनी हुई या नीचे को गिरी हुई होती होगी। उसे चित्र के मानव की नाक भी कुछ अजीब-सी दीखती है। उसकी पतली-टेढी अँगुलियो की उलझन तो उसकी समझ मे कभी आई ही नही। असल मे, तुम्हारे चित्र का असली मानव कुछ भिन्न-सा ही होता है।

और, अब तो तुम प्रकृति के एकदम समीप जा पहुँचे हो। चित्रो को निरावरण बना-बनाकर मानव को तुम फिर उसकी उसी मूल प्रकृति की ओर ले जा रहे हो, जो विकास के फेर मे पडकर सस्कृति की भूल-भुलैयो मे कही-से-कही भटक गया था।

आश्चर्य है कि सामान्य दर्शक को, जो निश्चय ही अरसिक होता है, तुम्हारी रची नग्न आकृतियो मे अश्लीलता की गध आ रही है। किन्तु धन्य है तुम्हारी प्रकृति-उपासना, कि तुम उस दर्शक की अनधिकारपूर्ण आलोचना पर ध्यान नही दे रहे।

आश्चर्य होता है तुम्हे कि प्रकृति और पुरुष को, पुराकाल के दार्शनिको की भाँति, तुम यदि 'निरावरण' मानते हो, तो उसमे किसीको अश्लीलता की गन्ध क्यो आये?

फिर नर और नारी की आकृतियाँ आकाश की तरह शून्यरूप तो हैं नही, जो उनपर रग-बिरगे बादलो की भाँति आवरण छाकर शोभा दे।

तुम्हारी यह शोध बिल्कुल सही है कि कलाशून्य दृष्टि ही अश्लीलता-दर्शन के चक्षु-रोग से पीडित रहती है। दूषित दृष्टिवालो को इतना अधिक मतिभ्रम हो जाता हैं कि वे वास्तविक सुरा और वास्तविक सुदरी मे भी अध्यात्मतत्व देखने का उपहास्य प्रयत्न करने लग जाते है।

इसी प्रकार तुम मानते हो कि नीति तो प्राकृत अवस्था के पूर्व की एक अधकच्ची-सी कल्पना है,—और यही कारण है कि तुम्हारे किसी-किसी प्रकृति-मूलक चित्र मे निरावरण अवस्था की खासी कलापूर्ण अभिव्यक्ति अन्तर्निहित रहती है ।

तुम्हारी तन्मयता की सराहना कहाँतक की जाये ! कभी-कभी तो यहाँतक देखा गया है कि कागज या पट्ट की ओर तुम देखते भी नही, तुम्हारी दृष्टि आकाश की ओर स्तब्ध होती है, और पेंसिल तुम्हारी योही प्रकपन किया करती है, किन्तु पट्ट पर तुम्हारे अतस्तल की भाव-रेखाएँ आप-ही-आप खिच जाती हैं । तुम्हारे प्रशसक कहते हैं कि अज्ञातरूप से खिची हुई उन अद्भुत रेखाओ की अव्यक्त-सी कला अत्यन्त उच्चकोटि की वन पडी है ।

सामान्य आँखे उस चित्रकला को देखकर हँस पडती है,—ऐसा दीखता है, मानो किसी अवोध चचल वालक ने कागज और रग को यो-ही छेड दिया हो ।

उस उत्प्रेक्षा को तो तुम स्वीकार करते हो, पर जरा दार्शनिक ढग से । तुम कहते हो कि कला ऐसी निर्दोप एव निरावरण होनी चाहिए, जैसी कि वालक की सरल अवोध अवस्था ।

तुम शायद उस अस्पष्ट चित्रकला का इस उपमा से भी समर्थन कर दोगे कि मस्तिष्क के अन्दर भी तो इसी प्रकार की अनगिनती आडी-टेढी लकीरें खिची हुई हैं, पर उनम से अनन्त ज्ञान किस कदर प्रवाहित होता रहता है ।

कभी तो तुम वहुत हल्के और वहुत फीके रगो से काम लेते हो, और कभी खूब गहरे और चटकीले रगो से; मगर वैज्ञानिक समिश्रण के सन्तुलन तो तुम उन दोनो ही प्रकारो मे पैठकर सावित कर देते हो । रगो के तुम्हारे विविध समिश्रणो को हर कोई समझ भी तो नही सकता; क्योंकि प्रत्येक समिश्रण मे तुम्हारी अपनी गुप्त मान्यता के अनुसार अलग-

अलग रहस्य अन्तर्निहित होता है।

राजनेता के आगे राजनीतिक गुत्थियो का, तथा तत्ववेत्ता के सामने दार्शनिक विवादो का जो निश्चित मूल्य होता है, उससे कही अधिक निर्दिप्ट मूल्य तुम्हारे समक्ष रेखाओ और रगो की विषम समस्याओ का रहता है।

अति प्राचीन काल के कुछ हिमायतियो का कथन है कि तब की चित्रकला वह बहुत अधिक लोक-व्यापक थी, और उपकरण भी उसके अत्यन्त सरल और सुलभ थे। घर-घर स्त्रियाँ पत्तो के रस और गोबर व मिट्टीतक से चित्र चितेर लिया करती थी। कोई-कोई तो तीनो लोको के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पुरुषो तथा अनदेखे दृश्यो के चित्र भी खीचकर रख देती थी।

तब ऐसा शायद हुआ भी हो, पर उन गोबर-मिट्टी के चित्रो के पीछे न तो कोई विज्ञान था, न कोई साहित्य।

उस युग का चित्रकार कुछ वैसा ही रहा होगा जैसा कि तब का कवि। वैज्ञानिक कसौटी पर न तो तब का कवि कसा गया था, और न चित्रकार ही।

उनकी अँगुलियाँ रेखाओ को केवल खीचना जानती थी, सोच-सोच-कर उन्हे सँवारना नही। उनके पास रेखाओ को मिटाने का शायद तब कोई साधन भी नही था। चित्र-रेखाएँ तो तुम्हारी बिल्कुल सही बनती है, क्योकि रबर से तुम उन्हे बारबार मिटाना जानते हो। तुम अपना निश्चय अनेक अनिश्चयो के बाद बनाते हो, यही तो तुम्हारी कला-कुशलता है।

कहते है, जिस चित्र को तुम पूरा नही कर पाते, उसे कवि पूरा कर देता है, और जिसे कवि अधूरा छोड जाता है, उसे तुम पूरा कर देते हो। तुम दोनो इसी कारण एक दूसरे की अभिनव किन्तु अपूर्ण सृष्टि के परिपूरक हो।

तुम दोनो के उपास्य देवता भी प्राय एक-से ही रहे—राजा और

नारी, और इन्ही दोनो का मागोपाग साहित्य। अच्छा हुआ कि साधारण जनसमाज पर तुम दोनो की पेनी दृष्टि नही पहुँची,—यद्यपि कभी कभी कवि ने अपनी लेखनी से और तुमने अपनी तूलिका से उसके भी कुछ चित्र मनोरजनार्थ खीच डाले

मगर उन चित्रो से न तो राजप्रसादो की ऊँची-ऊँची दीवारे अलकृत हुई, न सुमस्कृत नागरिको की वाणी ही।

तुम्हारे इस साधुस्वभाव की कौन सराहना नही करेगा चित्रकार, कि तुमने अपने कलात्मक अन्तर म कभी द्वेप या प्रतिहिसा को स्थान नही दिया ? 'केमरा' अचानक वज्र की तरह ऊपर से गिरा और उसने तुम्हारी नाजुक अँगुलियो और रगीली तूलिका को चूर-चूर कर दिया, पर अपनी आँखो के ही आगे अपनी ललित कला का सर्वनाश देखते हुए भी उसके विरुद्ध तुमने कभी एक शव्द भी मुहँ से नही निकाला; फोटोग्राफी को तुमने कभी दानवी के रूप मे चित्रित नही किया।

एक और स्तुत्य कार्य तुमसे वन पडा है। दूसरो के लिए तुम्हारी कला भले ही उपयोगी न हो—यद्यपि यह वात सत्य नही—पर तुमने अपने खुद के लिए तो उसे उपयोगी वना ही डाला है। तुम मानते हो कि यदि कवि की कला को मुनाफे का पेशा वनाया जा सकता है, तो चित्रकार की कला को क्यो नही ? यह कैसे हो सकता है कि जो चीज मनोरजनार्थ हो, वह अर्जनार्थ न हो ?

जव वढई लकडी छील-छालकर कमा लेता है, दर्जी सिलाई करके, नाई दाढी मूँडकर और किसान हल चलाकर पैदा करता है, तव चित्रकार और कवि पर ही उपार्जन का निर्दय प्रतिवन्ध क्यो लगाया जाये ? और फिर उस हालत मे, जवकि वढई, दरजी, नाई और किसान के पेशो से चित्रकार और कवि का पेशा मानव-जीवन के हित मे कही अधिक मूल्यवान् और आवश्यक है।

लेखक से

तुम हमेशा ही कुछ-न-कुछ साधारण या असाधारण लिखने के लिए आखिर इतने अधिक व्याकुल क्यो रहा करते हो ? क्या तुम्हे कुछ ऐसा लगता है कि तुम अपनी लेखनी द्वारा अपूर्ण जगत् मे अवश्य अधिक-से-अधिक सम्पूर्णता भर दोगे ?

तुम्हारे शब्दो मे क्या सचमुच इतनी भारी प्रेरक शक्ति भरी पडी है कि वह अपूर्ण को पूर्ण की ओर खींच-खीचकर ले जाये और असुन्दर को सुन्दर मे परिणत करदे ? कदाचित् हो, किंतु पूर्णता और सुन्दरता की परिभाषा वह स्वय तुम्हारी अपनी ही कल्पना की होगी। उससे तुम्हारे सीमित कर्त्तृत्व को शायद कुछ सन्तोष भी मिल जाता हो।

और, सबकी तरह सामान्य बने रहने मे शायद कुछ गलती है, सामान्यत जीवन का विकास होने देने मे शायद कुछ हर्ज है; शायद उसमे कुछ कम साहित्यिकता है। तुम्हारे असामान्य शब्द-सृष्टा बनने के प्रयास मे जीवन-कला यदि रूठ जाये, तो वह एक बहुत बडी भूल होगी। कुछ नासमझ लोग कहते है कि तुम्हारे इस प्रयास से जगत् का हित-साधन तो होता नही, तुम्हारा खुद का भी अहित ही होता होगा।

क्या तुम्हे ऐसा महसूस होता है कि तुम्हारे पास कोई ऐसी चीज देने को है कि यदि वह न दी गई, तो सारी दुनिया पर सूनापन छा जायेगा ? दिल और दिमाग पर विचारो का जब इतना बडा बोझ रखा हुआ है, तो उसे बिना बोले या बिना लिखे कैसे हलका कर सकते हो ? सही है कि जो विचार सामान्य व्यक्ति को भाररूप प्रतीत नही होते, वे असामान्य बनने की चेष्टा करनेवाले तुम लेखको को बुरी तरह बेचैन कर देते है। सामान्य लोगो के सामान्य विचार उनके जीवन मे झटपट लिपटकर तादात्म्य स्थापित कर लेते है, यह नही कि तुम्हारी तरह विचार-सपत्ति जीवन मे नाता तोडकर एक बोझा बन जाये। लेकिन उस बोझ को हलका करने का तुम्हारा यह तरीका भी बडा सुन्दर है।

कभी-कभी प्रश्न उठते है कि तुम ढेरो विचार सोचते हो, और ढेरो लिखते हो, पर उनमे से सार-तत्त्व कितना निकलता है ? प्रश्नकारो की समझ मे नही आता कि वह तुम्हारा कोई व्यापार तो है नही कि उसमे से कुछ लाभ निकाला जा सके। और फिर तुमने तो गणित से हिसाब लगाकर देख ही लिया होगा कि कागज, कलम और स्याही की जितनी अधिक खपत बढी है, उसके मुकाबले जीवन को 'जीवन' बनानेवाले ज्ञान मे कितनी अधिक वृद्धि हुई है। ज़रा जिनके आँख हो वे देखे कि परस्पर के विश्वास और प्रेम ने तुम्हारे निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर कितनी अधिक प्रगति की है, सत्य की कितनी अपनी तमाम किरणें तुम्हारी वाणी और तुम्हारी लेखनी ने तुम्हारी प्रवृत्तियो पर ला बिखेरी है। तुम्हारी रचनाओ ने अँधेरी दुनिया पर एक नया प्रकाश फैला दिया है। निस्स-

देह, तुमने जीवन-प्रकाश का अभाव अनुभव कर दुनिया को साधारण तल से ऊँचा उठाने की गरज से ही लेखनी पकडी है। क्या हुआ कि तुम्हारी अपनी दुनिया रेलगाडी के डिब्बे की तरह है, और प्रकाश केवल उसीके अदर कैद है, बाहर उसके दूर-दूरतक घोर अँधेरा काले-काले पर फैलाये बेतहाशा दौड रहा है। तुम्हारे इस दावे मे जरा भी गलती नही कि तुमने जगत् को महान् प्रकाश दिया है। मगर जगत् यह कैसा कृतघ्न है कि मानता ही नही कि वह तुम्हारे शून्य शब्द-प्रकाश से ही आलोकित हुआ है!

आश्चर्य है कि इतने तमाम सन्देश, इतने सारे लेख विविध विषयो पर तुम्हारे सामने सदा अजलिबद्ध खडे रहते है। हर किसीकी अभि-रुचि को सन्तोष-दान देने की इस कला मे तुम कितने निष्णात हो! तुम्हारा यह व्यवसाय कैसा सरस है कि इससे तुम्हे कभी असन्तुष्टि या आत्म-ग्लानि नही होती।

तुम्हारे धधे की दुनिया मे जब उचित कद्र नही होती, तब तुम्हारा शिकायत करना सर्वथा उचित है। जनता पर तुम कितना बडा अहसान करते हो, फिरभी वह तुम्हारी कद्र नही करती! तुम जो कलम घिसते-घिसते भी भूखो मरते हो, और ऋणग्रस्त भी रहते हो, इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिसे तुम साहित्य-साधना का नाम दिये बैठे हो, उसे अरसिक जनता शायद एक व्यर्थ का धन्धा समझती है। अपने-अपने काम-धन्धो मे लोग ऐसे मगन है कि तुम्हारे अहसानमन्द होने और तुम्हारी पूजा-प्रतिष्ठा करने की भी उन्हे एक घडी की फुर्सत नही!

तुम कल्पनाओ का कैसा सुन्दर हवाई मार्ग बना रहे हो, जब कि वे लोग आवागमन की सामान्य सडक बनाने मे लग रहे है, और वे तुम्हे भी बुलाते है कि उनके साथ तुमभी कक्कड तोड-तोडकर उसपर बिछाओ और पानी और मिट्टी डाल-डालकर उसे दुरमट से कूटो!

तुम्हारे लिए वे कोई 'निधि' भी तो स्थापित नही कररहे। कहते है कि कलम पकडते-पकडते लेखको के हाथ क्या इतने कमजोर और निक-

म्मे हो गये हैं कि उनसे घास की दस पूलियाँ भी नही कटती ? दस-पाँच दरख्त भी नही सींच सकते वे ? क्या आजतक उन्होने जगत् को भ्रात और जड बनाना ही सीखा ? इसे उनकी घोरतम अरसिकता न कहे तो फिर क्या कहे ?

तुम्हारे खिलाफ शिकायत है कि अगर रहँट, कोल्हू या चक्की चलाने के लिए तुम्हारी छाती समर्थ नही, तो फिर समाज और देश का भारी भार वहन करने का तुम्हारा यह शाब्दिक दावा सार्थक कैसे ? तबतक ऐसी ऊलजलूल बातो का जवाब न देना ही अच्छा है, जबतक कि तुम मानते हो कि जो कुछ तुम लिखते हो उससे प्रभावित होनेवाले लोगो की दुनिया मे बहुत बडी सख्या है।

जैसे आपस मे कुशल-क्षेम पूछा जाता है, उसी तरह जब तुम किसी सजातीय साहित्यकार या लेखक से मिलते हो, तो तुम उससे और वह तुमसे सहज पूछता है, 'कहिए, आजकल क्या लिखा जा रहा है?' तुम्हारे समाज मे लिखना मिजाज-पुर्सी की तरह आवश्यक और सहज-सा बन गया है।

तुम्हारी इस लेखनप्रियता ने तुम्हे सामान्य से अलग-थलग और असामान्य से बहुत दूर फेक दिया है, और यह तुम्हारे हक मे अच्छा ही हुआ।

तुम्हारा 'स्वान्त' सुखाय' लिखने का दावा भी बडा सुन्दर है। वे लोग अपने आपको सुखी बनाना भला क्या जाने, जिनके हाथ कलम और स्याही से हमेशा अछूते रहे है, और जो श्रम और सन्तोष के सपर्क मे आकर अपनी बहती हुई जीवन-धारा को सामान्य मनुष्य की तरह प्यार करते रहते हैं !

तुम्हारा यह कहना बिल्कुल दुरुस्त है कि 'स्वान्त. सुख' जबकि स्वय-तृप्ति का सहज परिणाम है या मूकत्व का प्रसाद है, तब उसके लिए कुछ-न-कुछ लिखने की तो खास तौर पर जरूरत है।

पत्रकार से

पत्रकार ! नये-नये समाचारो के तुम महज प्रसारक और प्रचारक ही नही, उनके सहज उत्पादक भी तो हो। अद्भुत है तुम्हारे उपजाऊ मस्तिष्क और प्रगतिशील लेखनी की सृजन-शक्ति ! प्रशान्त वातावरण को तुमने सदा उपेक्षा, उपहास और घृणा की नजर से देखा है, उसमे सनसनी पैदा कर देने के लिए तुम सदा अधीर और व्याकुल रहते हो।

तुमने कुछ अजब मोहिनी डाल रखी है। अखबारों के उपासको को तुम्हारे उपजाऊ दिमाग से पैदा हुई नई-नई कृतियो का दर्शन जबतक नही हो जाता, उन्हे अपना जीवन और जगत् सूना-सूना और नीरस ही लगता है। अखबार-वाहक को द्वार खट-खटाने मे जरा-सी भी देर कभी हो गई, तो उपासको की बेचैनी कुछ-कुछ वैसी ही देखने मे आती है, जैसी कि धूम्र-पान करनेवालो को सुबह-सुबह बीडी-सिगरेट न मिलने

पर होती है। बडे-बडे शहरो मे तो वे ब्राह्ममुहूर्त से ही अखबार की मागलिक उपासना करने बैठ जाते है। सबसे पहले वे तुम्हारे बडे-बडे शीर्षक-सूत्रो का पारायण करते है। देखते है,—आपस मे लोग कहाँ-कहाँ लड़-मरे, कहाँ पर भीषण दगा हुआ, कहाँ रेलगाडियाँ भिडी, कहाँ जहाज डूबा या कोई वायुयान गिरा, कहाँ अग्नि-काड हुआ, कहाँ कैसी उथल-पुथल हुई !

तुम खोज-खोजकर देते भी ऐसे ही समाचार हो। तुम पत्रकारो की दृष्टि मे अमगल ही सृष्टि का आदि है, और अमगल ही उसका अन्त। बर्बर-युग का मनुष्य ब्राह्ममूहूर्त मे मगल उपासना किया करता था। आजका सभ्य मानव तुम्हारे घोर प्रयास से अमगल की आराधना करने लगा है। उसके रूढिप्रिय मानस मे तुमने यह गजब की क्रान्ति पैदा करदी है।

तुम चाहते हो कि दुनिया मे सदा उथल-पुथल ही होती रहे, मेदिनी यह प्रतिक्षण काँपती ही रहे। स्थिरता या शान्ति को तो तुमने मृत्यु का पर्याय माना है, जबकि अस्थिरता या अशान्ति को जीवन का प्रतिरूप।

सामान्य बुद्धि को तुमने कुछ ऐसा मोह लिया है कि उसपर अब दूसरा कोई रग ही नही चढता। तुम्हारी बात को 'ब्रह्म-वाक्य' माना जाता है। सारी रात भले ही मूसलधार वर्षा हुई हो, पर किसी दैनिक-पत्र के प्रभात-सस्करण मे वर्षा का उल्लेख न आया हो, तो गीला आँगन देखकर भी हम यही कहेगे कि हमारी आँखे ही धोखा दे रही है!

अधिकाश जनसमूह को तुमने अपने कौशल से क्या खूब भुलाया है, कि तुमने किसी खास उद्देश्य या असाधारण आदर्श से प्रेरित होकर अखबार निकाला है। किन्तु तुम्हारे मूल उद्देश्य का ठीक-ठीक अर्थ कितने पढनेवालो ने लगाया होगा ? विज्ञापन के योगक्षेम का सम्यक् दर्शन भला कितने वाचको को होता होगा ?

तुम्हारे अखबार की एक-एक पक्ति प्रामाण्य समझकर पढी जाती है। पढनेवालो की मद बुद्धि निर्णय कर ही नही सकती, जबकि एक कॉलम में तो ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-सयम की स्तुति देखने मे आती है,

और ठीक वही उसके सामने ही उत्तेजक औषधियो का सुरुचिवर्द्धक विज्ञापन दृष्टिगोचर होता है ! एक तरफ वे गुड की महिमा का लेख देखते है, तो वही दूसरे कॉलम मे गुड को उपहास-पात्र बनाया जाता है ! पढनेवाला वह किसे तो त्यागे, और किसे ग्रहण करे ? लेख मे तो दातुन का गुण बखाना जाता है, पर विज्ञापन मे वालो की भाडू से दाँतो को बुहारने की सिफारिश की जाती है ! एक जगह ग्रामीण चर्मकार की दुर्गति का चित्रण, तो दूसरी तरफ 'बाटा' के जन-सेवक जूतो का आकर्षक विज्ञापन !

तुम्हारे अखबारो का उदर कितना विशाल है ! कैसे भी विज्ञापन आये हो, भक्ष्याभक्ष्य का विचार किये बगैर अपने विशाल उदर को वे प्रतिक्षण भरते ही रहते है। चित्रपटो का विज्ञापन तो उनका 'सर्वविटामिन-युक्त' आहार है। स्वच्छन्द सस्कृति और बन्धन-मुक्त चारित्र्य का अभिवर्द्धक सिनेमा जहाँ तुम्हारे अखबारो की नसो मे नित्य नूतन रक्त-सचार करता है, तहाँ अखबार भी सिनेमा को जीवन-दान देते है।

श्रद्धालु दुनिया को तुम बडे कौशल और साहस के साथ निर्वाण-पथ की ओर ले जा रहे हो। और तुमने कुछ ऐसा सम्मोहित कर रखा है कि उसे इस महायात्रा का पता भी नही चला। उसकी दृष्टि मे तुम ज्ञान-विज्ञान के सचारक और दिव्य सदेशो के अभूतपूर्व वाहक जो ठहरे।

जब तुम कोई नई पत्रिका या पत्र निकालना चाहते हो, तब तुम्हारे घोषित उद्देश्य और दावे देखते ही बनते है। धरा-धाम पर स्वर्ग का राज्य उतार देने का दावा किया जाता है। तुम मान लेते हो कि समाज मे जैसे जीवन रहा ही नही, और तुम उसमे जीवन-रस उँडेल दोगे। ऐसी आकाश-वाटिका पर विमोहित हो जाना अस्वाभाविक भी नही।

तुम्हे हमेशा दूर की ही सूझती है, तुम्हारा ज्ञान दूर दूर के देशो का ही होता है, सब कुछ विराट्-ही-विराट्। पास की चीज तुम्हारी नजर से ओझल रहती है, छोटी-छोटी बातो पर तुम ध्यान नही देते। चिन्ता तुम्हे समूचे राष्ट्र की ही नही, अखिल विश्व ब्रह्माड के कल्याण की रहती है!

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीतियो और समझौतो की बारीकियो पर तुम बहस करते थकते नही। पर ऐसी छोटी-छोटी बातो का तुम्हे पता नही रहता कि तुम्हारे घर के चूल्हे मे जो लकडियाँ जलती है, वे बाजार से क्या भाव आती है, और भिंडी आजकल आलू से सस्ती है कि महँगी!

दूर-दूर के शहरो की गलीज बस्तियो पर दुनिया का ध्यान खीचने के लिए तुम असर उँडेलनेवाली टिप्पणियाँ लिखते हो, किन्तु सम्पादकीय कमरे के सामने ही जो कूडे-कचरे का ढेर लगा हुआ है, और पिछवाडे भगियो की जो स्वर्ग-विनिदित बस्ती है, वहाँ भी तुम्हारी सूक्ष्म समर्थ दृष्टि ने क्या कभी चक्कर लगाया है ?

सघर्ष का जहर फैलाये बगैर किन्ही अन्य साधनो से अर्जन करना तुम्हे स्वभावत पसन्द नही। अपना और अपने पत्रो का अस्तित्त्व कायम रखने के लिए जगत् मे विप-बीज बोते हुए क्या तुम कभी थके हो ? कौम-कौम के दर्म्यान, राष्ट्र-राष्ट्र के बीच तुम द्वेष और सघर्प नगण्य स्वार्थ की खातिर खडे कर देते हो—तुम्हारा उपार्जन का यह तरीका सचमुच कितना सात्विक है !

तुम्हारे सप्राण अनुभवो और मूक साधना ने तुम्हे इतना अधिक व्याकुल कर दिया है कि तुम सोचते हो कि अगर अखबार न निकाला गया तो तुम्हारे विचारो का लाभ उठाये बगैर दुनिया कही डूब न जाये।

अखबार जहाँ नही पहुँचते, वहाँ शायद घोर अन्धकार आच्छन्न रहता होगा, दूर-दूर की बातो से लोग बेखबर रहते होगे, अपने नजदीक-वालो को भले ही वे ठीक-ठीक पहचानते हो। दुर्भाग्य से क्योकि उन अज्ञान-ग्रस्तो की आँखे उनकी 'अपनी' होती है, 'अखबारी' नही।

सन्देह नही कि पाँच-सात वर्ष के लिए अखबारो को यदि पूर्ण विश्राम दे दिया जाये, तो ज्ञान का पवित्र आघात न पडने से विश्व-कल्याण का स्रोत एकदम बन्द हो जायेगा।



प्रचारक से

दुनिया आज तुम्हारी बहुत-बहुत कृतज्ञ है। प्रचारक! तुम्हारी अन्त-प्रेरिका विविध सेवाओ को भला कौन अमान्य ठहरा सकता है? प्रत्येक-क्षेत्र के तुम मानो गन्धवाही पवन हो।

प्रचार करते ममय तुम कभी विचार के प्रकारो पर ध्यान नही देते। सुगन्ध और दुर्गन्ध मे पवन कब भेद करता है? उसका कार्य तो गन्ध का मात्र वहन करना है।

तुम अपनी अद्भुत प्रचार-शक्ति से किसीभी विचार को इस प्रकार सर्वत्र फैला देते हो, जैसे शिशिर मे प्रात काल समस्त वातावरण पर कुहरा छा जाता है—और अपनी खुद की अवसरवादिता से उस घनीभूत कुहरे को एक क्षण मे तुम छिन्न-भिन्नभी कर डालते हो।

सुनते है कि अति प्राचीन काल मे प्रचार-शास्त्र यह शायद था ही नही। इसकी गरिमा और महिमा को किसी वैदिक ऋषि ने नही गाया।

वे कहते थे कि, पुष्प अपनी सुगन्ध का कहाँ प्रचार करने जाता है? पर वे उपमा-प्रयोगी इस मोटे-से तथ्य को भूल जाते थे कि मनुष्य प्रकृति के आश्रय मे रहनेवाला कोई फूल-पत्ती तो है नही; सृष्टि का वह प्रयत्नशील सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।

उस युग का जीवन-शोधक बहुधा मूक साधना के द्वारा अपने मत को फैलाने का विचित्र-सा यत्न करता था। स्वभावत किसी मूक निश्चल मनुष्य को देख-देखकर लोगो को भारी कुतूहल होता होगा, और उसके विषय की आसपास कुछ चर्चा भी फैलती होगी।

अपनी बातो को फैलाने और बिछाने के उनके अड्डे और साधन भी अद्भुत ही होते थे,—ऊबड-खाबड स्थानो की खूब पद-यात्राएँ चलती थी, नदियो के तटो या पहाडो पर यदा-कदा अव्यवस्थित मेले लगते थे, और अजीब-अजीब पर्वोत्सव भी मनाये जाते थे।

कहते है कि बौद्ध भिक्षुओ ने दूर-दूर के देशोतक मे जाकर सद्धर्म को फैला दिया था। मगर तुम इस दन्त-कथा पर विश्वास नही करोगे। कारण कि, उन भिक्षुओ को न तो विभिन्न भाषाओ का परिज्ञान था, और न अखबारो और ध्वनिप्रसारक यन्त्रो के ही उनके पास अचूक साधन थे। यह सच है कि उनकी अजीब-सी वेश-भूषा देख-देखकर लोग उन्हे घेर जरूर लेते होगे, और पर्याप्त ज्ञानोदय न होने के कारण उन अजनबियो की ओर वे सम्भवत कुछ खिचभी जाते होगे। ऐसे ही उनके द्वारा तब धर्म-स्थापन हुआ होगा।

तुम्हे यह देखकर अवश्य क्लेग होता होगा कि उन अद्भुत साधनो के खण्डहर परिवर्तित रूप मे आजभी कुछ-कुछ शेप रह गये है। निश्चय ही भाग्यहीन है वे असस्कारी लोग, जो प्रचार-यन्त्र का श्रद्धापूर्वक न तो पावन उपयोग करते है और न उससे पूरा नैतिक लाभ ही उठाते है।

प्रचार और प्रसार के लिए प्राचीनकाल मे ऐसा था ही क्या? न तो तब धर्मनीतिवर्द्धक चुनाव लडे जाते थे, न शातिमूलक युद्ध निर्माण किये जाते थे, और न इतने लम्बे-चौडे लोक-सेवा के ही विविध क्षेत्र थे। तहाँ आज तुम्हारे युग मे सृजन और सहार की सैकडो ही अभेदात्मक सस्थाएँ और योजनाएँ मौजूद है।

तुम्हारे विराट् कन्धो पर कैसी भारी-भारी जिम्मेदारियाँ आ लदी है! तुम्हे सिद्ध करना है कि सेवा और रचना की प्रस्तावित योजनाएँ और प्रवृत्तियाँ मूलत सत्य-प्रेरित है, और सत्य का परमतत्व चुनावो और प्रतिस्पर्धामूलक आन्दोलनो की प्रतिध्वनिप्रवर्तिका कन्दराओ में बसता है।

तुम्हारी एक शोध ने तो युग की काया को एकदम पलट दिया है। 'किये जाओ' की जगह जबसे तुमने 'कहे जाओ' का यह महामन्त्र प्रतिष्ठित किया, लोक-प्रवृत्तियाँ सारी ही तब से आलोकित हो उठी है।

नये-नये आन्दोलनो को जन्म देकर तुमने सिद्ध कर दिया है कि विज्ञापनवाद वैज्ञानिक है, और आचरण-मार्ग अवैज्ञानिक।

तुम मानते हो कि प्रचार-यन्त्र जितनी अधिक अश्वशक्ति का होगा, उससे उतने ही बडे चमत्कारी परिणाम निकलेगे। तुम्हारे इस यन्त्र से कपास देखते-देखते कोयला हो जाता है और कोयला बन जाता है कपास।

शिवि और दधीचि अपने शरीर का मास और हड्डियाँ देकर भी, प्रचार का समर्थन न मिलने से, 'त्यागमूर्ति' न बन सके,— तहाँ तुमने कइयो को अपनी वाणी और लेखनी के बल से वैसा बना दिया। और केसरी तो कितने ही तुम्हारी बदौलत कानन को छोड-छोडकर मानव-बस्तियो मे आ बसे है।

तुम्हारे हाथ मे योतो आज अनेक अस्त्र-शस्त्र पडे है, पर सबसे जबर-दस्त अस्त्र तो यह सनसनी उगलनेवाले अखबारो का है। इस ब्रह्मास्त्र से तुम एक क्षण मे अघटित को भी घटित कर दिखाते हो।

तुम्हारी आँखो को उधार लेकर किसी घटना को जब दर्शक देखते है, तो उन्हे वह या तो बहुत बडी दिखाई देती है, या बहुत ही छोटी। यथार्थता के तो तुम खण्ड-खण्ड कर देते हो।

बीडी हो या कि गीता, अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए बाजार की शोभा बढानेवाली हर चीज़ को तुम्हारा द्वार खट-खटाना पडता है। तुमने साहित्य और सगीत मे भी एक नया युग उपस्थित कर दिया है। जिन अनेक विषयो को कवि-कल्पना ने कभी छुआ भी नही था, उनपर भी तुमने ठोस कविताएँ रच डाली है। इसी प्रकार नये-नये रागो का भी तुमने आविष्कार और सृजन किया है।

जिस किसी चीज को तुम हाथ लगाते हो, उसकी धूम मच जाती है। तुम चाहते हो कि उसकी चर्चा को अधिक-से-अधिक आँखे और अधिक-से-अधिक कान किसीभी तरह एकबार छूभर ले।

तुम मानते हो कि अलकारो मे सर्वश्रेष्ठ तो 'अतिशयोक्ति' अलकार है, जो हृदय की अतुलनीय विशालता या उदारता को बडे रसात्मक ढग से अभिव्यक्त करता है।

तुम्हारे प्रखरतम बाणो ने आकाश-मण्डल और भूगर्भतक को वेध डाला है, प्राचीन-से-प्राचीन इतिहास और नवीन-से-नवीन विज्ञान को भी उसके पीछे-पीछे दौडना पडता है।

प्रचारक! यदि तुम आज न होते, तो लोहे और पत्थर-जैसे वजन-दार विषय कागज़ या रुई की तरह जन-आन्दोलनो के वातावरण मे कैसे चढ या उड सकते थे?

तब, तुम्हारे प्रति दुनिया क्यो न कृतज्ञता प्रकट करे?

राष्ट्रकर्मी से

आश्चर्य कि तुम्हारे यह अस्थिशेष कन्धे यह कितना भारी बोझ सँभाले हुए है! यदि यह सुदृढ आधार न मिला होता, तो राष्ट्र अपने भार से शायद ही सँभल पाता। सही सतुलन उसका तुम्हीने अबतक बनाये रखा है।

राष्ट्र के हित-चिन्तन मे ही तुम्हारा सारा समय कटता है। यही कारण है कि तुम्हारे अपने खयाल मे राष्ट्र अपनी समग्र गति-विधि का तुम्हे ही एकमात्र नियता मानता है

अपनी कर्मशीलता को तुमने कभी क्षुद्र सीमा-रज्जु से नही बाँधा, 'सर्व' या 'अखिल' के स्तर से तुम कभी नीचे उतरते ही नही।

कुटुम्ब की चिन्ताओ और जिम्मेदारियो मे फँसे रहनेवाले सामान्य लोगो ने कभी महसूस ही नही किया कि तुम्हारी बहुमूल्य जीवन-शक्ति राष्ट्र-उत्थान के अर्थ किस दरियादिली से खर्च हो रही है।

तुमने कभी अपने परिवार की भी पर्वा नही की। कमबख्त कुटुम्ब

अखिल राष्ट्र के अन्दर आता भी नही। माँ-बाप या भाई-बहिनो की सेवा करनेवालो को कौन वेवकूफ राष्ट्रकर्मी कहेगा ?

कुटुम्ब तो यह लोक-सेवा-प्रयोग के लिए एक अत्यन्त सकुचित क्षेत्र है, अत वह उपेक्षा की चीज है। और नजदीकवालो की सेवा करके किसीने कभी ख्याति भी तो प्राप्त नही की, जो कि जीवन-यात्रा का एक आवश्यक सम्बल है।

पुरातन काल मे जो दस-पाँच व्यक्ति प्रख्यात हुए भी, उन्हे कभी किसी कथाकार ने क्या राष्ट्रकर्मी कहा है ?

श्रमणकुमार ने अपने अधे माता-पिता को काँवड पर विठाकर भले ही असख्य तीर्थो की यात्राएँ कराई हो, पर उसके जैसे अन्धे भक्त राष्ट्र का भारी भार उठानेवालो की श्रेणी मे कभी आ नही सकते।

सीता की सारी दिन-चर्या केवल राम की निष्ठातक ही सीमित रही। ऐसी निष्ठा राष्ट्र के प्रति उदासीन ही हो सकती है, और इसी-लिए कवियो ने सीता को 'जगज्जननी' तो कहा, पर 'राष्ट्र-जननी' कदापि नही, क्योकि जगत् तो राष्ट्र के सामने एक छोटी-सी या खोखली-सी चीज है।

सौमित्रि ने करोडो को कब अपना प्रिय बन्धु माना था ? लक्ष्मण का सेवा-क्षेत्र तो राम की कुटियातक ही सीमित रहा था।

और भरत की भी भक्ति-भावना ऐसी ही सकुचित थी। राष्ट्र की विशालता का भरत को कभी दर्शन भी नही हुआ था। भरत की सकीर्ण दृष्टि राम की चरण-पादुकाओतक ही परिसीमित रही। भोले-भाले भरत ने शायद उस नन्दीग्राम को ही भारत-राष्ट्र मान लिया होगा।

'अखिल राष्ट्रीय भावना' का पूर्ण विकास तो तुम्हारे ही विशाल हृदय में हुआ है। तुम्हारे करोडो ही भाई है, करोडो ही बहिनें है। तुम्हारी कर्म-निष्ठा राष्ट्र के एक छोर से चलकर या सरककर दूसरे छोरतक जा पहुँची है।

तुम उन लोगो के बीच मे भी बैठकर राष्ट्र-कर्म कर रहे हो, जहाँ

विचार तो उनके और तुम्हारे अनमिल होते ही है,—बोली भी जो न तुम्हारी समझते है और न तुम उनकी समझते हो। हाँ, अज्ञात रूप से तुम दोनो की हृत्तन्त्रियो के स्वर अवश्य उस क्षण मिल जाते होगें।

तुम्हारे राष्ट्र-धर्म मे कर्म-क्षेत्र की लम्बाई-चौडाई एक मुख्य वस्तु है,—तुम कोई गोताखोर तो हो नही, कि गहरे मे धँसकर डुबकी मारो, न पक्षी ही हो कि ऊँचे-ऊँचे उडते फिरो। तुम्हारे लिए तो इतना ही काफी है कि तुम्हारी आवाज कितनी लम्बाई-चौडाईतक पहुँचती और गूँजती है।

और आवाज़ को पहुँचाने या गुँजाने के तुम्हारे साधन भी अत्यन्त समीचीन और वैज्ञानिक है,—अखबारो, जुलूसो और चुनावो का नैतिक सहारा लेकर तुम लाखो-करोडो की हृदय-गुहा मे चट से प्रवेश कर जाते हो।

अभिमान तो तुम्हे छू भी नही गया। किसीभी सभा-सम्मेलन मे कोई तुम्हे अध्यक्ष बनने के लिए कहता है, तो ढले-ढलाये दो-चार नम्रतासूचक शब्द गुनगुनाने के बाद तुम तुरन्त उस प्रस्ताव को शील-सकोच के भारी भार से दबकर स्वीकार कर लेते हो। बारात मे वर महाशय को चाहे कुछ लज्जा भी आये, पर तुम बिना किसी सकोच या शर्म के राष्ट्र-कल्याण की दृष्टि से जुलूस मे फूल-मालाओ से लदकर शरीक हो जाते हो, और उसी अनासक्त भाव से अपने मानपत्रो का सुमधुर पाठ और अपना उच्च जयघोष भी सुन लेते हो।

तुम इतनी अधिक लगन से राष्ट्र की खातिर तरह-तरह का विधायक कार्य करते रहते हो कि तुम्हे अपनी अमूल्य काया की सार-सँभाल-तक का ध्यान नही रहता। असल मे तो तुम अपनी काया को 'अपनी' मानते ही नही, वह तो तुम्हारी दृष्टि मे सारे राष्ट्र की सम्पत्ति हो जाती है। तब उसकी सार-सँभाल का ध्यान रखना तुम्हारा नही, किंतु राष्ट्र का फर्ज हो जाता है। वही खिलाये, वही पिलाये, वही पहनाये, वही सारी आवश्यकताओ और अभावो का ध्यान रखे।

तुम्हारी विशेषताओ के कारण तुम सैकडो मे दूर से ही पहचान लिये जाते हो । तुम्हारी वेश-भूषा, तुम्हारे उठने-बैठने और बोलने का तरीका इतना साफ और सधा-सधाया होता है कि तुम कभी छिप नही सकते । अपने आपको छिपाने की बुरी आदत तुम राष्ट्र-कर्मियो की होती भी नही ।

प्राचीनो की तरह तुम कोलाहल से कभी भागते या डरते नही । एकात प्रशात वातावरण को तुमने मृत्यु का लक्षण माना है, इसीलिए बडे-बडे जुलूसो और जलसो मे तुम्हे सदा ही उन्मादकारी आनन्द उपलब्ध होता है ।

सुनते हैं कि सुरा पर पहले भी प्रेम था,—और अच्छो-अच्छो का प्रेम था, सुरा और सुरो का तो जोडा ही था । पुराणो मे नाना प्रकार के मद्यो के नाम आये है । किन्तु तुम्हारे समुदाय ने जिस जन-सेवा-सुरा का अतृप्त आकण्ठ पान किया है, उसका अलौकिक स्वाद उन प्रचीनो को नही मिला था । मानना पडेगा कि इस सुरा की बदौलत ही राष्ट्रो मे इतना महान् जागरण और सामजस्य प्रकट हुआ है ।

स्वभावत ही तुम्हे उन लोगो पर रोषपूर्ण दया आती होगी, जो तुम्हारी कोलाहलपूर्ण प्रवृत्तियो मे अलग-थलग रहकर सामान्य ढंग से अपनी जीवन-यात्रा को घसीट रहे हैं ।

सामान्य ढर्रे पर जीवन की गाडी को खीचनेवाले वे कैसे मनुष्य है, जो तुम्हारी तरह न तो राष्ट्र के लिए सोचते है, न उसके लिए कुछ करते है ! तुम्हे सचमुच आश्चर्य होता होगा, कि तुम्हारी तरह हजारो आदमी भाषण क्यो नही देते ?—वे तो केवल बोलते हैं ! कोई राष्ट्र-कर्म क्यो नही करते ?—वे तो केवल काम करते है ! तुम्हारी इस परेशानी को देखकर तुम्हारे प्रति किसे हमदर्दी न होती होगी ।

राष्ट्रकर्मी ! तुम्हे अपना परेशान सम्प्रदाय अभी बहुत विस्तृत करना होगा । तुम्हारी यह परेशानी तुम्हे बल दे ।



ग्रामोद्धारक से

सरासर गलत और वेजा है कि कुछ लोग तुम्हे 'ग्राम-सेवक'—जैसे बहुत हल्के नाम से पुकारा करते है। ग्रामोद्धारक या ग्राम-विधाता को भला ग्राम-सेवक कौन कहेगा ?

ग्राम-सेवक तो कोई दूसरे ही जीव होते है। तुम्हारे साथ उन वेढगे मानव-प्राणियो की उपमा कौन जोडेगा ? ग्रामसेवक तो वे है, जो अपने आपको देहातियो के जैसे ही गँवार बना लेते है। कभी तो उनके हाथ मे झाड़ू होती है, कभी खुरपी और कभी कुदाल। ग्रामो मे रहते-रहते उनकी भी बुद्धि वैसी ही जड हो जाती है। उन्हे न तो सभ्य समाज मे उठने-बैठने की तमीज होती है, न परिधान धारण करने का ही शऊर।

कुछ अजीव-से ही प्राणी होते है वे। अपनी निपट अयोग्यता ढँकने को कोई-कोई तो प्राय मौन ही रहते है, और कुछ अगर बोल भी दिया तो अशिष्टतापूर्वक वेलिहाज होकर।

उन असस्कारी ग्राम-सेवको के साथ तुम ग्रामोद्धारको का मुकावला करना निरी मूर्खता है। कहाँ सेवक, कहाँ उद्धारक ! ग्रामो का सचमुच यह सद्भाग्य है कि तुम्हारे सरीखे श्रेष्ठ शहरातियो को उनकी याद ने आज इतना अधिक व्याकुल कर दिया है, अत उनके उत्थान मे अव देर नही।

मारे व्याकुलता और पर-दु ख-कातरता के देहात के ऊवड-खावड रास्तो पर से अपनी मोटरगाडी उछालते हुए तुम वहाँ 'गरुड-गति' से पहुँच जाते हो।

व्याकुलता वहुत अधिक वढ जाती है, तो महीनो शहर का तुम मुहँ भी नही देखते। देहात की जटिल समस्याएँ तुम्हे वही गर्द और गोवर के पास वैठकर सुलझानी पडती है।

तुम्हारे सीधे-सादे रहन-सहन को देहात के अनघड लोग वडे कुतूहल मे देखते है। तुम उनकी झोपडियो के सामने वैठकर जव चीनी मिट्टी की प्यालियो मे शहर से लाई हुई ठडी चाय को पीते और वासी डवल रोटी का और सूखे रसहीन फलो का सेवन करते हो, तव वे तुम्हारी ओर अशिष्टतापूर्वक ताकने लगते है। तुम्हारे इस महान् त्याग और तप की वे ग्रामीण लोग कुछ भी कद्र नही करते।

तुम्हारे हजामत के सरजाम को, तुम्हारी सावुनदानी को, व्रुश को, तुम्हारी प्यालियो और छुरी काँटे को और तुम्हारे अखवारो और ग्रामीण अर्थशास्त्र की वडी-वडी जिल्दो को वे कुछ अजीव-सी दृष्टि से देखते है। फिरभी तुम्हारे दयार्द्र अन्तर मे उनके उत्थान की व्याकुलता दिन-दिन वढती ही जाती है।

दुर्भाग्यवश, उनकी कुण्ठित वुद्धि न तो तुम्हारे-विज्ञानसंगत युक्ताहार की वात समझती है, न शास्त्रीय सफाई और स्वास्थ्य की ही। तुम उन्हें

कितनी ही नई-नई बाते सिखाने के लिए गॉव की खाक छानते फिरो, उनकी जड बुद्धि तुम्हारी एकभी शिक्षा को ठीक तरह से ग्रहण करने की नही ।

तुम इसीलिए दिन मे कई-कई बार उनके आगे ताजा दूध और फलो के रस का, केवल उन्हीकी हित-कामना से, सेवन करते हो कि तुम्हारे मनोहारी उदाहरण से वे जडबुद्धि कुछ तो सीखे । पर उन्हे तो वही पानी-सा पतला खट्टा मट्ठा और भात का नमकीन मॉड पीना पसन्द है । उनकी ज्वार-बाजरे या जौ-चने की मोटी-झोटी रोटी क्या तुम्हारी मक्खना-वेष्टित पावरोटी से कुछ सस्ती पडती होगी? सेब-सन्तरे को भी वे अपनी मोटी बुद्धि से रोटी-प्याज के मुकाबले महँगा या अस्वादिष्ट समझते होगे, नही तो ऐसे स्वास्थ्यप्रद सात्विक आहार की अवहेलना वे क्यो करते ?

तुमने गॉव मे, अपनी नमूने की कुटिया मे, उनकी खातिर स्थापत्य-कला का जो थोडा-सा प्रदर्शन सजा रखा है, उसे भी उन कमबख्तो ने ग्रहण नही किया ।

तुम यह ठीक ही कहते हो कि मिट्टी-गोबर के ससर्ग मे रहते-रहते उन ग्रामीणो के दिमाग मे भी गोबर भर गया है ।

यह तो तुमने जाकर उन्हे बताया कि वे ऐसे गन्दे वातावरण मे रहते है, जो अनेक रोगो के कीटाणुओ से भरा पडा है ।

उन भोदुओ को सफाई और स्वास्थ्य के तर्कसिद्ध सूत्र समझाने मे तुम्हे कितना घोर परिश्रम करना पडता है, जो अपने घरो को गदले गोबर से लीपते हैं, कीटाणु फैलानेवाली गायो को अपने सिरहाने बॉधते है और बीमार पडने पर कठवैद्यो की बताई पीपल-शहद या हरड-बहेडे की गोलियो मे विश्वास करते है ।

तुम्हारी यह शोध बिल्कुल सही है कि शहर के हृष्ट-पुष्ट लोगो के मुकाबले ग्रामीणो का स्वास्थ्य जो इतना गिरा हुआ दिखाई देता है उसका सबसे जबर्दस्त कारण यही है कि 'जर्म-विज्ञान' से वे सर्वथा बे-खबर होते है ।

तुम्हारे सम्पर्क मे आने मे पहले उन्हे इतना भी तो प्रारम्भिक ज्ञान नही था कि मक्रामक रोगी के पास उठना-बैठना कितना खतरनाक प्रयत्न है। रोगी को घेरकर वे मूर्ख ग्रामीण उसकी खटिया के पास बैठ जाते थे। रोगी को घर मे अलग कर देने का फर्ज अदा करना तो तुम्हीने जाकर उन्हे मिखाया।

तुम उनके दिमाग मे से उम मडन को भी निकाल देने का यत्न कर रहे हो, जिसे भूल से 'धार्मिक मनोवृत्ति' का नाम दे दिया गया है।

तुम्हारा यह प्रयास सचमुच स्तुत्य है कि तुम नई चेतना जगाने के लिए नये-नये गीत मिखाकर ग्रामीणो मे पुरातन काल से प्रचलित साधु-मन्तो के सडे-गले नीरस भजनो को उडा देना चाहते हो।

उन्हे तुम व्रत-उपवास और पूजन-अर्चन-जैसे निरर्थक कृत्यो से भी विरत कर देना चाहते हो। यह भी तुम्हारा एक सत्प्रयत्न है।

कुछ लोगो की यह एक गलत धारणा बन गई है कि ग्रामोद्धारक चाहे तो ग्रामीणो मे बहुत-कुछ सीख सकता है, अत उसे ग्राम मे 'सीखने' की भी दृष्टि लेकर जाना चाहिए।

यह तो कुछ वैसी ही बात हुई कि अध्यापक को छात्रो से, वैद्य को रोगियो से और नेता को अपने अनुयायियो से पाठ पढना चाहिए !

जिन ग्रामवासियो को सब-कुछ मीखना ही-सीखना है, और सीख-सीखकर ही ऊँचा उठना है, वे तुम सिखानेवालो को भला क्या मिखा-येगे? हो मकता है कि वे तुम्हे इस प्रकार की अर्थहीन बाते सिखाने बैठ जाये कि गेहूँ और जौ के दरख्त मे क्या अन्तर होता है। उन्हे जो कुछ भी पुराना-धुराना आता है, उसे भुला देने का प्रयत्न करना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है। और यही कारण है कि उनके तमाम पुराने धार्मिक और सामाजिक मूल्यो को तुम आज गलत ठहरा रहे हो। सुना है कि तुम्हारे इम प्रयत्न के परिणाम मे तुम्हारी प्रतिष्ठा भी सन्निहित है।

अन्त मे तुम्हे तो गामो का यह आज का चित्र ही बदल देना है,

ग्रामवासियो के सनातन काल से चले आये अबतक के जीवन-चित्र को बिल्कुल पोछ डालना है। इस आदर्श काया-कल्प की खातिर तुम भारी मेहनत कर रहे हो। ग्रामीणो की हर बात की तुम इसीलिए पूछ-ताछ करते हो।

उनकी हालत को नापने-तौलने के लिए सैकडो प्रश्नो की लम्बी-चौडी सूची तुमने तैयार कर रखी है। तुम्हारी कुटिया मे जॉच-पडताल-सम्बन्धी बीसियो फाइले सजी रखी है, दीवारो पर उन्नत देशो के नक्शे टँगे हुए है, ग्राम-पुनर्रचना के सैकडो ग्रन्थ तुमने पढ डाले और ढेर-के-ढेर कागज रँग डाले है। अपने उद्धार और उत्थान मे क्या अबभी वे कुछ सन्देह करेगे ?

चूँकि तुम्हे ग्रामीणो का सारा ही जीवन-चित्र पलट देना है, इस-लिए तुम उनके धर्मस्थान को 'दफ्तर' मे और उनके आनन्द-विनोद के त्यौहार को समाज-सुधार के गम्भीर चितन-दिवस मे पलट देना चाहते हो।

तर्कवाद के तीक्ष्ण कुठार से उनकी धर्मश्रद्धा की जड काट डालने का तुम्हारा यह निश्चय श्लाघनीय है। अध अश्रद्धा का बीजारोपण करके ग्रामो की तुम वास्तव मे भारी सेवा कर रहे हो।

ग्रामीण वे साफ ही गलत रास्ते पर चले जा रहे थे। जड प्रकृति के साथ परिचय बढाते-बढाते वे खुद भी जड बनते जा रहे है, यह सत्य तुम्हे वहाँ जाते ही स्पष्ट हो गया, और प्रकृति की गोद से तुमने उन्हे हठात् हटा दिया। सचमुच उनकी यह भारी भूल थी कि मानवी सभ्यता से सम्बन्ध न बाँधकर उन असस्कारियो ने पशु-पक्षियो, पेड-पत्तियो और खेत-खलिहानो से जाकर अपना नाता जोडा। तुमने इस दिशा मे जो अनुकरणीय सत्प्रयास किया है, उससे ग्रामोद्धार के इतिहास मे तुम्हारा नाम युग-युग अजर-अमर रहेगा।

नेता से

तुम नेता हो, भूले-भटके गुमराहो को चुपचाप अपने पीछे-पीछे ले चलनेवाले। पीछे-पीछे चलने के लिए श्रद्धालु जनता तैयार भी है। पर ले कहाँ जाओगे ? उसे यह सब समझने-समझाने की आवश्यकता नही। अनुयायियो या राहगीरो को यह पूछना भी नही चाहिए। गुमराह का गुस्ताख होना अच्छा नही।

राह दिखानेवाले के लिए यह जरूरी नही कि 'मार्ग' हो ही। सम्भव है, तुम्हारे अनुयायियो को मार्ग का दर्शन ही न हो। इसमे तुम्हारे नेतृत्व का क्या दोष ?

तुम्हारा यह सद्भाग्य ही है कि तुम आज नेता कहे और माने जाने लगे हो, जबकि इतनी सारी भेडो का निर्बाध नेतृत्व करनेवाले गडेरिये को कोई नेता नही कहता, यद्यपि तुम्हारे अनुयायियो मे इतनी भी श्रद्धा नही जितनी कि भेडो के वर्ग मे है।

किन्तु उस गडेरिये को अपने भेड-सघ की वह सूक्ष्म या स्थूल चिंता नही रहती, जो तुम्हे अपने मानव-सघ की है।

कारण शायद यह हो कि गडेरिया अपने पशु-सघ को तुम्हारी तरह जन्मना गुमराह नही मानता, और तुम्हारे वज्र-कन्धो पर जो दुनियाभर की चिन्ताओ और योजनाओ का भार लदा पडा है, इसका कारण यही है कि तुम स्वभाव से ही अपने अनुयायियो को गुमराह मान बैठे हो, और वह गवाँर गडेरिया, जिसे विवेकशून्य दुनिया ने आजतक नेता नही कहा, अपने अनुशासनप्रिय सघ को कभी व्यर्थ के मोहजाल मे नही फँसाता।

उसे नेतागिरी के छिन जाने का भी भय नही, कारण कि वह नेता ही नही, जबकि तुम्हे प्रतिक्षण यह भय लगा रहता है, और इसीलिए

शायद अनुयायियो को खीचे रखना जरूरी हो गया है ।

उन्हे तुम पहले से ही, शायद जन्म से ही, मार्गभ्रष्ट समझ बैठे हो। यही कारण है कि तुम्हे निरन्तर उनके पथ-प्रदर्शन और मार्ग-निर्माण की चिन्ता सताती रहती है । तुम अपने आदर्श मार्ग को इतना अधिक अकटक, स्वच्छ और पवित्र समझते हो कि तुम खुद उसपर चलकर उसकी स्वच्छता और पवित्रता को नष्ट करना नही चाहते । अत तुम्हारा मार्ग दूसरो के लिए होता है, तुम्हारे अपने खुद के लिए नही ।

ऊँचे-ऊँचे राज-प्रासादो का निर्माण करनेवाले शिल्पी क्या स्वय उनमे कभी रहने जाते है ? इसी न्याय से, मार्ग-निर्माता स्वय उस मार्ग पर नही चला करता । तुम्हारी दृष्टि मे प्रयोग और परीक्षण तो सदा दूसरो पर ही होने चाहिएँ ।

तुम नेतालोग शायद किसी और ही मिट्टी के बने होते हो, नही तो सामान्य जनता के और तुम्हारे बीच मे आखिर क्यो इतनी अधिक विभिन्नता होती ? अवश्य ही तुम्हारी जीवन-रचना उनसे कुछ भिन्न है; नही तो सामान्य जनता का जन्मजात अधिकार आज घोर अन्धकार और मार्ग-भ्रम क्यो होता, और तुम उसके प्रकाशदायक और पथ-प्रदर्शक क्यो माने जाते ?

अत यदि तुम्हारी विभिन्न प्रवृत्तियो पर सहज ही असफलता और अस्वच्छता कब्जा करले, तो तुम्हे उससे आश्चर्य और मन क्लेश क्यो होना चाहिए ?

तुमने अपने नेतृत्व द्वारा निस्सन्देह यह सिद्ध कर दिया है कि सेवक सेव्य से भी महान् है । अपने आपको श्रद्धास्पद जन-सेवक बनाकर सहस्रो अनुयायियो की अन्तर्गुहा मे तुमने सहज ही श्रद्धा-भक्ति को बिठा दिया है ।

जगत् मे कोई तो आकर उठाते है, और कोई गिराते है—यह हुई साधारण प्रक्रियाएँ । किन्तु तुम नेताओ की विशेषता तो इसीमे है कि अपने अनुयायियो को न ऊपर ही स्थिर रखो, न नीचे ही पटक दो, वे

यदि अधर-ही-अधर लटकते रहे, तो इसमे उनका अनिष्ट ही क्या ?

तुम उन्हे अपनी खुद की आँखो का उपयोग नही करने देते, कारण कि तुम्हारी अपनी आँखे उनके लिए मौजूद जो है। तुम स्वय अपना नेतृत्व करो इसमे तुम्हे अधिक श्रम पडेगा। उनके अज्ञान की नीव पर अपने नेतृत्व को खडा करने मे जो आनन्द लाभ होता है वह तुम्हे सहज-सा हो गया है। उस स्वाभाविक आनन्द का अभाव तुम्हे सचमुच व्याकुल बना देता है।

तुम जो भाषा बोलते हो, उसमे संगति और स्थिरता-सरीखी कोई चीज क्यो हो ? तुम्हारी भाषा का चाहे जैसा अर्थ लगाया जा सकता है। तुम्हारे वक्तव्यो का सत्य अद्भुत होता है, असत्य अत्यन्त गूढ। न तुम्हारी 'हाँ' समझ मे आती है, न 'ना'। तुम्हारी भाषा मे आदि से अन्ततक लपेट-ही-लपेट रहती है।

वे सूखी रोटी के लिए घोर परिश्रम करते है, और उस श्रम को नौकरी या मजदूरी कहा जाता है। तहाँ, तुम घी-चुपडी रोटियो के लिए शरीर-श्रम बहुत अल्प, किन्तु बौद्धिक और वाचिक श्रम अधिक करते हो, और उसे लोक-सेवा का नाम मिलता है। तुम्हारे प्रचार-पाडित्य ने एक ऐसी जीवन-कला और एक ऐसी नव सस्कृति का प्रदर्शन किया, कि अनुगामिनी जनता की श्रद्धा को उसका पता भी न चला।

तुम क्यो ऐसा प्रयास करते हो कि साधनहीन लोग दुनिया मे जिन्दा रहे ? जीवित रहेगे तो वे प्रयत्न करेगे, परिणामत धनिक बनेगे, और पाप और पतन मे सम्बन्ध जोडेगे। उनको मिटाने के लिए फिर उन्हे महाप्रयास करना पडेगा। इसलिए अच्छा तो यही है कि उन्हे रोटी के अभाव मे भूखो ही मरने दिया जाये। पर शायद इसमे तुम्हारे नेतृत्व के अस्तित्व को खतरा है।

नेता! तुम्हारा नेतृत्व सतत निर्भय बना रहे यही तुम्हारी एकमात्र आकाक्षा है। वह सफल हो।

●

शासक से

शासक ! तुम्हारा प्रयोजन यह सर्वथा अर्थ-सगत है कि प्रजा के उत्कर्ष और विकास के लिए शासन अत्यन्त आवश्यक है। फूल तभी तो विकसित होता है, जबकि वह सपुट के नियन्त्रण मे रह चुका होता है।

तुम्हारे पवित्र प्रयोजन मे इस तथ्य से कोई फर्क नही पडता कि फूल उस सपुट का निर्माण स्वय ही करता है, और इसलिए उसे स्वशासन या स्वातन्त्र्य पसद है।

'स्वशासन' से तो तुमभी इन्कार नही करते। तुमने 'स्वायत शासन,' 'लोक-शासन,' 'प्रातिनिधिक शासन' आदि सुन्दर, श्रुतिमधुर शब्दो की सृष्टि कर डाली है। अत प्रजा का उत्कर्ष और यह विकास तुम्हारे द्वारा भी निर्वाध ही परिचालित होता है।

'स्वशासन' यह यो कोई नया शब्द नही है। इसका आविष्कार बहुत पहले आरण्यक-शोधको ने किया था,—मगर एक भिन्न अर्थ मे।

इस शब्द से उन्होने 'आत्मदमन' का अर्थ ग्रहण किया था। प्रजा के कल्याण की क्योकि उन एकात चितको को तनिक भी चिता नही थी। प्रजा के अभ्युदय के हितार्थ यद्यपि बाद को कतिपय स्मृतियाँ रची गई, परन्तु तन्त्र या व्यवस्था की दृष्टि से वे भी अपूर्ण और अशुद्ध ही रही। शासन तब शायद एक अत्यन्त सकीर्ण या अपने आपमे ही केन्द्रित शब्द रहा होगा, इतना तब वह व्यापक कहाँ बन पाया था? उन व्यवस्थापको के लिए तो समाज मे मात्र आत्म-शासन पर्याप्त था।

ऐसे स्वशासन के काल्पनिक वल पर प्रजा का हित-सम्पादन भला कैसे हो सकता था ? अतिप्राचीन काल मे कुछ ऐसी ही अस्पष्ट-सी राज्य-व्यवस्था का आविष्कार हुआ था।

राजा का शासन-तन्त्र तव एकदम निर्वल होता था। तव का पौरुप-हीन राजा आयु के चौथेपन मे उत्तरदायित्व से डरकर अरण्यवास करने चला जाता था।

उसका सारा ही शासन-प्रयत्न व्यर्थ जाता था। कहते है, विनोदी सूर्य जैसे अपनी किरणो से जल को खीच-खीचकर पुन खेतो पर उँडेल देता है, उसी तरह तव का सनकी राजा अपनी प्रजा से राजस्व वसूल-कर फिर उसीको लौटा देता था।

ऐसेही वे और भी कितनेही निरे अर्थशून्य कार्य किया करते थे। कोई तो हल की मूठ पकड लेता था, कोई प्रजा के हितार्थ उपवास कर वैठता था, कोई अपनी पत्नी को घोर जगल मे भेज देता था, और कोई स्वेच्छापूर्वक भिक्षु वन जाता था।

'शासन' को 'शोपण' का समानार्थक वना देना कोई साधारण पुरुपार्थ का काम नही। यह पवित्र प्रयास पूर्णतया वैज्ञानिक है। 'शासन' यदि प्रचलित अर्थ मे दमन है, तो 'शोपण' के साथ उसकी एकरूपता सधनी ही चाहिए। शासन हो या कि शोपण, उसमे 'प्रजारजन' ही होता है।

किन्तु शासन को तो असल मे लोक-तन्त्र से चिरतन प्रतिप्ठा मिली है, क्योकि यह वहुजनो के शुद्ध विवेक-वल पर चलता है। तुम मानते हो कि वहुमानव गलती कभी कर ही नही सकता।

और फिर 'वहुमानव' हमेशा 'उत्तम मानव' ही होता है। 'वहुमत मे परमेश्वर वसता है' इस तथ्य को भला कौन झुठला सकता है ?

सत्य हमेशा चार की तरफ ही झुकेगा, तीन की तरफ नही। अत हस्त-गणना के आधार पर चलनेवाले लोकतन्त्र को नि:सन्देह निर्दोप और सम्पूर्ण होना ही चाहिए।

लोक-तन्त्र मे चूंकि चर्चा या वहस के लिए वहुत वड़ा व्यापक क्षेत्र

पड़ा रहता है, अत न्याय हमेशा वहाँ छन-छनकर ही बरसता है। और फिर जिस वाद-विवाद का उपसहार 'हस्त-उत्थान'पद्धति द्वारा होता हो, उसकी तरफ भला कौन अँगुली उठा सकता है ?

धन्य है 'हस्तोत्थान-अनुशासन' को! सिद्धात का अपवादो और सम-झौतो के साथ गठबन्धन कराकर दल का नेता जरा-सा इशारा करता है और सैकडो हाथ बुद्धि और हृदय की उपेक्षा कर एकदम ऊँचे उठ जाते है ।

वाद मे ठुकराया हुआ मस्तिष्क भी हस्त-सकेतात्मक सत्ता की अधी-नता स्वीकार कर लेता है, और उसे वह 'अनुशासन' का नाम दे देता है। सोचता है कि लोक-तन्त्र का निर्णय शुद्ध ही हुआ होगा, कारण कि इतने तमाम हस्तो ने ऊँचे उठकर विवादात्मक प्रश्न का आमूल मन्थन जो किया है।

मथन का काम पहले मस्तिष्क और हृदय के सुपुर्द था, उसे अब लोक-तन्त्रवादियो ने 'हाथ' को सौप दिया है।

मद्य को एक या दो-चार ही क्यो पिये ? दो-दो चार-चार बूँद लाखो-करोडो को, और एक-एक प्याला उसका सौ-पचास जनो को क्यो न पिलाया जाये ?

यह वक्तव्य कितना मधुर और मादक है कि राष्ट्र के शासक सारे ही प्रजाजन है! प्रश्न खडा करना अप्रस्तुत है कि राष्ट्र मे कोई 'स्व-शासित' भी है या नही ?

तुम्हारी दृष्टि मे राज-तन्त्र हो या कि प्रजा-तन्त्र, उसमे लोक-हित को स्वत विकसित नही होना चाहिए, वल्कि शासन के इशारे पर लोक-हित को अपनी परिभाषा स्वय गढ लेनी चाहिए, और 'वहुमानव' द्वारा सचालित विधान-यत्र के चक्र पर लोक-बुद्धि और लोक-हृदय को ठीक तरह से घूमते रहना चाहिए।

कभी-कभी तुम परस्पर का शासन ज्यादा पसन्द करते हो। लोक-मत राष्ट्रीय मद्य से प्रेरित होकर' अधिनायक' का निर्माण करता है,

और अधिनायक फिर लोकमत को अपने आकर्षक आतंक द्वारा मोड़ लेता है।

मगर एक चीज तो तुम्हारे सभी शासन-तन्त्रो मे व्याप्त देखी जाती है, और उसका व्याप्त रहना ही तुम्हारे हक मे श्रेयस्कर है,—यह कि साधारण प्रजा कभी भेड की कोटि से ऊपर नही उठती। वह भेडिए और बाघ का भी स्वाँग भरना जानती है, पर कइयो को बाघ बनाकर भी वह अपना भेड का स्वरूप कभी त्यागना नही चाहती, चाहे भी, तो त्याग नही सकती।

राज-तन्त्र के आगे वह 'भेड-प्रजा' अपनी वफादारी जाहिर करती है, यद्यपि हृदय मे उसके विरक्ति और घृणा भरी रहती है, और कभी-कभी वह डरते-डरते सफल या विफल विद्रोह भी कर बैठती है।

लोकतन्त्र के सौन्दर्य पर वह मोहित हो जाती है। सत्ता और जातीयता की मादक सुन्दरता को वह घट-घट मे देखती है, चाहती है कि उसे उँडेलकर पूरी-की-पूरी पी जाये, पर ओठो से जो चीज जा लिपटती है, वह तीक्ष्ण तेजाब होता है।

अधिनायक-तन्त्र मे वह देखती तो अपनी ही डरावनी परछाई है, पर उसे ठीक-ठीक पहचान नही पाती।

शासक, तुम्हारा भाँति-भाँति का यह शासन-तन्त्र प्रजा के हक मे अस्पष्ट-सा ही रहा है, चाहे उसकी आँखो मे तुमने कैसा ही मोहनाजन डाला हो।

प्रजा तुम्हारे विविध रूपो पर मोहित होना जानती है, और तुम्हे पदच्युत करना भी उसे आता है। पर यह अच्छा है कि प्रत्येक शासन-तन्त्र मे तुम उसके लिए अपरिचित-से रहते हो, और वह तुम्हारे लिए अजनबी-सी रहती है।

कभी-कभी असंस्कृत और अशासित जातियो को उनके स्तर से ऊपर उठा देने का पवित्र उद्देश्य लेकर भी तुम्हे ईश्वरी आदेश से उनपर शासन करना पडा है।

शासक से]

शाति और व्यवस्था की प्रतिक्षण तुम्हे चिता रहती है, और कही वे खतरे मे न जा पडे इसलिए तुम्हे कभी-कभी अशान्ति और अव्यवस्था से भी काम लेना पडता है।

तुम स्वय अपने आयोजनो द्वारा पैदा की हुई अशान्ति और अव्यवस्था को सदा शाति और व्यवस्था ही कहते हो। तुम्हारी अपनी तथा प्रजा की प्रवृत्तियो मे यह पारिभाषिक अतर दुर्भाग्य या सद्भाग्य से हमेशा ही देखने मे आया है।

तुम्हारी मर्यादा के अदर प्रवेश पाते ही बडे-बडे गुनाह अपना असली रग बदल लेते हैं, राष्ट्रहित के अनिवार्य साधनो मे वे परिणत हो जाते हैं।

अविश्वास और सन्देह की पुख्ता बुनियाद पर तुम्हे ऐसा शासन-तन्त्र स्थापित करना बहुत प्रिय है, जिसके उद्देश्य होते हैं निष्ठुर शाति, घोषित व्यवस्था, और शोषक लोक-हित।

अद्भुत है कि जन-हित की तुम्हारी सुन्दर-सुन्दर योजनाएँ मूढ प्रजा की समझ मे नही आती,—उनको या तो वह मुग्ध दृष्टि से या फिर सदिग्ध दृष्टि से देखती है।

शासक! तुम्हे यह प्रस्ताव एकदम नापसन्द है कि पशुओ की जगली राज्य-व्यवस्था की ओर लौट चलना चाहिए। उस व्यवस्था मे, क्योकि, न तो सास्कृतिक विकास के लिए गुजाइश है, और न कोई वैधानिक योजनाएँ ही वहाँ सगठितरूप से चल सकती है।

अपने पक्षो के समर्थन मे यद्यपि तुम कभी-कभी वन्य पशुओ, मधुमक्खियो और चीटियोतक की मिसाल दे डालते हो, पर असल मे अपने शासन-तत्र के सामने सर्वत्र तुम्हे अव्यवस्था और अराजकता ही दीखती है।

शासक! तो क्या अततक तुम एक पहेली ही बने रहोगे?



शिक्षक से

शिक्षक ! ज्ञान-विज्ञान का यह ढेर-का-ढेर उत्पादन जितना तुम्हारे उर्वर मस्तिष्क-क्षेत्र में हुआ है, उतना शायद ही कही अन्यत्र हुआ हो। सद्भाग्य है कि तुम्हारा उत्पादित ज्ञान उस ज्ञान की व्याख्या पर नही उतरता, उसकी उस सीमा को नही छूता, जिसके बडे-बड़े दावे दर्शन-सूत्रों और उपनिषदो ने पुराकाल मे किये थे।

वह प्रारम्भिक परिशोधो का, अत अपूर्णता का, युग था। तब के वे अपूर्ण परिशोधक यथार्थता का हू-ब-हू निरूपण करते हुए काफी हिचकते थे, और अपना निपट अज्ञान छिपाने के लिए उन्हे सशयास्पद सूत्रो की शरण लेनी पडती थी।

कभी तो वे अपने धुँधले ज्ञान को अपनी अपरिपक्व बुद्धि से 'अनन्त' कहने लगते थे, और कभी 'असीम' और 'अज्ञेय'।

तहाँ, तुमने ज्ञान की आज ठीक-ठीक हदबदी करदी है। तुमने उसे कसकर बाँध लिया है। तुम्हारे ज्ञान-क्षेत्र मे आज वह 'नेति, 'नेति' की अज्ञानसूचक रटन सुनने को नही मिलती।

छात्र-जगत् को तुम कितना अधिक सिखाते हो, कितनी अधिक ज्ञान-राशि उसे प्रदान करते हो, अपने इस अखण्ड दान का कदाचित् तुम्हे भी ठीक-ठीक पता न हो।

तुम अपने उपार्जित ज्ञान की आलोक-किरणे प्रतिक्षण विखरते ही रहते हो। उन ढेर-की-ढेर किरणो को मूढ विद्यार्थियो से बटोरते भी नही बनता।

आरण्यक युग के गुरु तो महाकृपण होते थे। इतने अधिक मित-व्ययी कि अपने यत्किचित् ज्ञान को बहुत मम्भाल-सम्भालकर खर्च करते थे। उनके हर चीज के अति सयम का कदाचित् यही आशय रहा होगा।

शिक्षण-प्रक्रिया मे स्वभावत ज्ञान-निधि का क्षय प्रतिक्षण होता रहता है, यह तो तुम मानते ही हो। अच्छा हुआ कि इस ज्ञान-यक्ष्मा का अचूक इलाज तुमने खोज निकाला। ज्ञान का जितना अधिक क्षय होता है, भारी-भारी शुल्क या वेतन लेकर तुम उतनी ही उसकी पूर्ति कर लेते हो।

शिक्षण और वेतन के श्रेष्ठ विनिमय का तब यह महान् अन्वेषण नही हुआ था। वे मतिमूढ गुरु तो हमेशा अपने 'कुल' को चलाने की ही चिन्ता मे व्याकुल रहते थे, और इस बात के भी इच्छुक रहते थे कि विद्यार्थी अपने कुल-पति को श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखे और पूजे।

विद्यार्थियो की कोरी श्रद्धा-भक्ति का तुम्हारे आगे कोई मूल्य नही। तुम्हे परवा नही, जो तुम्हारे सुशील छात्र तुम्हे अपना वेतनभोगी नौकर समझते है।

शिक्षण-शालाओ मे आज की भाँति उस युग मे 'त्रैराशिक' का प्रयोग नही किया जाता था। तहाँ आजका गणितज्ञ शिक्षक इस प्रश्न को तुरन्त हल कर लेता है कि 'उतने विद्या-दान का यदि इतना शुल्क हुआ, तो इतने का कितना होगा ?'

तुम्हारे ज्ञान-विकास का यह सबसे बडा प्रमाण है कि शिक्षण और शुल्क मापने का सही फीता हमेशा तुम अपने पास रखते हो।

अर्थशास्त्र का तुमने गहरा अध्ययन किया है। तुमने अध्यापन-जैसे शुष्क दिमागी व्यायाम को जो आज एक प्रतिष्ठित व्यवसाय का रूप दे डाला है, यह तुम्हारा कोई मामूली अर्थसिद्ध पुरुषार्थ नही है।

सम्भव है, प्राचीन काल मे भी एक-दो गुरुओ के अतर मे यथार्थतः वुद्धिविकास हुआ हो, और उन्होने द्रव्य लेकर पठन-पाठन का सिलसिला शुरू कर दिया हो। किन्तु एक स्मृति मे यह अन्यायपूर्ण उल्लेख मिलता है कि 'भृतजीवी' अर्थात् वेतनभोगी शिक्षक को श्राद्ध के पुनीत कार्य मे वरण न किया जाये। ऐसा भयकर दण्ड और यह कुनाम देकर स्मृतिकार ने उन सुधार-प्रेमी शिक्षा-शास्त्रियो की शुरू मे ही जड काटदी।

तव का आचार्य दूसरो के पुत्रो को अपने पुत्र समझने की भी वाहियात चिन्ता मे व्यस्त रहता था। तुम्हारे जैसे यथार्थवादी अथवा 'अर्थवादी' शिक्षक ऐसे मूढतापूर्ण विचारो मे क्यो पडने लगे ?

तुम्हारा काम तो शिक्षार्थी को मात्र शिक्षण देना है। उसके चारित्र्य के तुम पहरेदार तो हो नही, न उसके जीवन के तुम नियता ही हो। तुम्हारे लिए उसके सम्बन्ध मे इतनी ही जानकारी रखना काफी है कि जो पाठ तुमने दिया है, उसे वह समूचा-का-समूचा निगल गया या नही। उसे वह हजम भी करता है या नही, अथवा अपने आचरण मे उसे कितना उतारना है, इन सब निरर्थक प्रश्नो से तुम्हारा कोई वास्ता नही।

जैसे, तुम्हारा शिक्षण-ज्ञान इतनाभर सिद्ध कर देगा कि तम्बाकू के सेवन से क्या-क्या हानियाँ होती है, पर इस बात की देख-रेख या हिसाब रखना तुम्हारा काम नही कि तुम्हारे कितने प्रतिशत विद्यार्थी बीडी-सिगरेट फूँकते है !

तुमने इस महान् तत्त्व को बुद्धिमत्तापूर्वक समझ लिया है कि शिक्षक का काम एक नियत माप-तोल के अनुसार किताबो से खरोच-खरोचकर विद्यार्थी को मात्र शिक्षण देना है, इससे आगे और कुछ नही।

तुम समय-समय पर शिक्षा की नई-नई योजनाएँ भी गढते रहते हो, और उनके सफल-असफल प्रयोग भी किया करते हो। किंतु तुम्हारे वे सारे प्रयोग दूसरो के बच्चो पर ही होते है, अपनोपर कभी नही। तो क्या तुम्हारी उन नई शिक्षा-पद्धतियो पर तुम्हारे बच्चो का विश्वास नही, या खुद तुम्हारा भी विश्वास नही है ? अद्भुत है तुम्हारी यह आकाक्षा कि जिस शिक्षा-योजना पर न तुम्हारा खुद का विश्वास है न तुम्हारे बच्चो का, उसे तुम दूसरो के गले उदारतापूर्वक उतार देना चाहते हो !

स्वाभाविक है कि तुम्हारे छात्र तुम्हारी वेश-भूषा की नकल श्रद्धा-भक्ति से किया करे। इस तरह सादगी का सात्विक त्याग सिखाकर तुम सचमुच अपने छात्रो का,—खासकर ग्रामीण छात्रो का—भारी उपकार कर रहे हो।

पुराने पाषाण-युग के निर्दय नीरस शिक्षक अपने छात्रो को आत्म-सस्कृति के ऊबड-खाबड रास्तो पर जबरन घसीट ले जाते थे, तहाँ, तुम उन्हे व्ययसाध्य खेल-कूदो और ललित कलाओ के नये-नये वैज्ञानिक अर्थ समझाकर हँसते-खेलते मोहक मनोरजक मार्ग पकडा देते हो।

शिक्षक ! निश्चय ही तुम्हारा ज्ञान-दान यह अद्भुत है और अर्थ-पूर्ण भी।



शिक्षार्थी से

ईर्ष्या-सी होती है तुम्हारी यह आकर्षक जीवन-चर्या देख-देखकर। शिक्षा के इस सुनहरे स्वच्छन्द सुपथ पर तुम्हारा यह छात्र-जीवन वर्षों से कैसी निश्चिन्त यात्रा करता चला आ रहा है।

शिक्षार्थी, तुम्हारा यह सारा ही वातावरण भव्य है। विद्यालय के ये आलीशान भवन, खेल-कूद के ये विशाल मैदान, नख से शिखतक

तुम्हारी यह वेश-भूषा, तुम्हारी बडी-बडी कीमती किताबे और रग-बिरगी निर्झर कलमे देखकर तुम्हारे इस छात्र-जीवन पर कौन मोहित न हो जायेगा ?

पुरातन काल के शिक्षार्थियो की जब तुम्हारे साथ तुलना करते है, तव पता चलता है कि छात्र-सस्कृति का आज कैसा असीम विकास हो गया है ।

घास-फूस की गदी झोपडियो मे या वृक्षो की छायातले अटसट सूत्रो और कारिकाओ के रटनेवाले उन कौपीनधारी असस्कारी शिक्षार्थियो का जरा ध्यान तो करो ।

कानो का पर्दा फाडनेवाले उच्चस्वर से हाथ नचाते हुए वे प्रात ही पाठ घोखना प्रारम्भ कर देते थे, और पेड की छाल और ताडपत्रो पर न जाने क्या-क्या ऊटपटाँग लिपि मे लिखते रहते थे ।

दिनचर्या भी उन विद्यार्थियो की कुछ विचित्र-सी ही होती थी । कभी तो गुरुआनी की आज्ञा से जगल मे जाकर लकडियाँ इकट्ठी करते, और कभी आस-पास से दुर्गन्धभरा गोवर बटोर लाते थे । पानी भरना, झाड देना, सारा गृह लीपना और प्रात ही ठण्डे पानी से नहा-धो लेना यह था उन वटुको का अभ्यासक्रम ।

दोनो-तीनो समय आचार्य की नियमित पाद-सेवा तो होती ही थी । गौओ की वे टहल करते थे, खेत गोडते, और धान भी उन्हे कूटनी पडती थी । इनमे से एक भी विषय क्या आज के समुन्नत शिक्षा-क्रम के अन्तर्गत आता है ?

द्वार-द्वार भिक्षा-पात्र लेकर वे नित्य घूमते भी थे । ऐसे भिक्षाखोर विद्यार्थी एक-एक विद्यापीठ मे दस-दस सहस्र इकट्ठे हो जाये तो अचरज क्या ?

दिनचर्या तो, वस, तुम्हारी ही गौरव-शालिनी है, खासकर उच्च-शिक्षा प्राप्त करनेवाले तुम सुसम्कृत शिक्षार्थियो की ।

तुम्हारा दैनिक कार्य-क्रम यह सारा ही वोधप्रद है. कारण कि तुम 'केवल' शिक्षार्थी हो , उन प्राचीनकाल के छात्रो की तरह तुम सस्कार-हीन श्रमजीवी विद्यार्थी नही हो ।

तुम्हारे कार्यक्रम मे वैसा कोई भाड़ू-खुरपीवाला शरीर-श्रम नियत नही किया गया है। तुम नही चाहते कि तुम्हारा शरीर-श्रम किसी उत्पादन या किसी फल से लाछित हो, इसीलिए तुम नानाविध स्पोर्टो के शुद्ध अनुत्पादक श्रम को सदा पसन्द करते हो—और उस श्रम-देवता के चरणो पर उलटे तुम सैकडो-हजारो रुपये चढा देते हो।

यह वात नही कि हाथ-पैर से तुम कभी काम नही लेते , तुम एक सुधरे हुए वढिया कलात्मक ढग से उनका उपयोग करते हो। जैसे, पैर से तुम भारी-भारी गेदे उछालते हो; कूदते हो, नाचते हो ; हाथ से दिन मे तीन-तीन, चार-चार वार केशो को भाड और कघी से कलापूर्वक सँवारते हो , जूतो पर प्रात और साय पॉलिश करते हो , गले की रग-विरगी धज्जी को परिश्रमपूर्वक वाँधते हो—और भी न जाने कितने श्रम-साध्य काम तुम विशुद्ध शिक्षा-लाभ की दृष्टि से सारे दिन करते ही रहते हो।

क्या तो शारीरिक और क्या वौद्धिक श्रम मे तुम शिक्षार्थियो ने सार्थकता को स्थान न देकर खालिस 'कला' को प्रतिष्ठित किया है।

तुम ऐसे अनेक ऊँचे-ऊँचे विपयो का अभ्यास करते हो जो कि आगे चलकर न केवल जीवन-दर्शन के साथ वल्कि उदर-पूर्ति से भी रिश्ता जोडनेवाले नही।

और उदर-पूर्ति के वेकार चिन्तन मे तुम पडो ही क्यो ? तुम्हारा एकमात्र ध्येय तो ऊँची-से-ऊँची शिक्षा को हासिल करना है। तुम्हारे सामने तो ऊँचे-ऊँचे आदर्श है, गभीरतम विपयो का गूढ और सूक्ष्म चिन्तन है, अखवारी दुनिया की वडी-वडी जटिल समस्याएँ है। तेल, नौन और लकडी की चिन्ता मे घुलना-पिसना साहित्य या विज्ञान के विद्यार्थी का काम नही।

और, अपने भविष्य के वारे मे तुम सोचो ही क्यो ? यह सब तो

निरक्षर किसान सोचे कि खेत मे वह क्या बोयेगा और क्या काटेगा, बुद्धिवल से वचित मजदूर सोचे कि अपने निठल्ले हाथ-पैरो का उपयोग वह किस-किस काम मे करेगा।

तुम्हे न तो खेतिहर बनना है, न मजदूर, न कुदाल चलानी है, न खुरपी, न कातना है, न बुनना, ये सारे ही जगली धन्धे तो असभ्य निरक्षरो के करने के है, तुम सभ्य साक्षरो के नही।

फिर ये सब-के-सब धन्धे श्रद्धा और शरीर-श्रम पर अपना आधार रखते है। इनमे पडने की बेवकूफी तुम भला क्यो करोगे ?

श्रद्धा-भावना को तुम उपहास की दृष्टि से देखते हो, तो उसे अनुचित कौन कहेगा ? प्रतिमास नियत फीस देकर शिक्षक का खरीद लेनेवाला बुद्धिवादी विद्यार्थी श्रद्धा-भक्ति को लेकर आखिर करेगा क्या? दुनियाभर के ज्ञान-विज्ञान की बडी-बडी पोथियाँ तुम्हारी मेज पर बिखरी पडी है, और वह वेतनखोर अध्यापक तुम्हारा नौकर है। फिर तर्कवाद की भी तुम्हारे पास अटूट पूँजी है,—तब श्रद्धा और जिज्ञासा तुम्हारे किस काम की ?

और शरीर-श्रम को भी तुम मूल्यवान् क्यो मानो ? शरीर-श्रम का शिक्षा के साथ कोई मेल भी तो नही बैठता।

श्रमसाध्य शिक्षा पुराने युग के विद्यार्थी मे कितने ही नैतिक दोष पैदा कर देती थी,—जैसे कि नम्रता, यथार्थता, तितिक्षा, श्रद्धा आदि।

तहाँ, व्ययसाध्य शिक्षा ऐसे दोषो से शिक्षार्थी को सर्वथा मुक्त रखती है, और यही उसकी खास खूबी है। तुम किसीका अकुश नही मानते, यही तो तुम्हारे स्वतत्र ज्ञान-संचय का प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रवृत्ति को 'हलचल' का नाम शायद तुम्हारी ही अदम्य शक्ति से सुलभ हुआ है।

प्राचीन काल का शिक्षार्थी विद्या के साथ हठात् विनय का बेतुका सबध जोड देता था, शिक्षा का बेमेल गठ-बन्धन वह दीक्षा के साथ कर लेता था। यही कारण है कि तब की छात्र-संस्कृति विकास नहीं कर पाई।

तुमने यह ठीक ही किया, जो विद्या के साथ अविनय का रिश्ता जोड लिया, भले ही कोई सिरफिरा तुम्हारी विद्या को अविद्या का नाम दे डाले। फिर यह तो अन्य बहुत-सी चीजो की तरह एक गवेषणा का विषय है कि जीवन का निर्माण विनय-युक्त विद्या से होगा या अविनय-युक्त अविद्या से।

किंतु विद्या का कब निरकुशता से वैर रहा ? विद्या को तुमने 'विमुक्ति' का पर्याय मान लिया, तो इसपर किसीको क्यो आपत्ति हो ?

तुम्हारे ऊपर व्यर्थ ही यह आरोप किया जाता है, कि पढते-पढते तुमने अपना स्वास्थ्य चौपट कर लिया।

पूछो तो उन आरोपियो से कि आखिर उनकी स्वास्थ्य की व्याख्या क्या है। क्या नयनाभिराम ऐनक देखकर ही वे तुम्हारी सूक्ष्म दृष्टि को कमजोर बताते है ? तुम्हारा पीला चेहरा और पिचके गाल देखकर क्या वे इतना भी नही समझते, कि यह तो तुम्हारे शिक्षण-काल की प्रखर तपश्चर्या का सुपरिणाम है ?

फिर तुम्हारा स्वास्थ्य गिरेगा क्यो ? तुम्हारा विद्यार्थी-जीवन कुछ असयमी तो है नही। उत्तेजक पदार्थो का रक्तवर्द्धक सेवन, चित्रपट-घरो मे आधी-आधी राततक का उत्तम जागरण, रसीले साहित्य का स्वाध्याय, शरीर-श्रम से सहज वैर, इस सबकी क्या असयम मे गणना की जायेगी ?

शिक्षार्थी, तुमने क्या नही साधा ? शरीर-श्रम की उपेक्षा से पीत-वर्णोन्मुख आरोग्य और प्रामाणिक आजीविका को साधा, अश्रद्धा और अविनय से चारित्र्य का निर्माण किया ; और अध्ययन को आचरण मे अछूता रखकर मनुष्यत्व को विकसित किया।

तुम्हारा यह उन्मुक्त जीवन वस्तुत अत्यधिक सफल रहा।

⊜

परीक्षक से

लोग पूछते हैं, कि तुम कदाचित् सारी ही परीक्षाएँ पार कर चुके होगे, नही तो सैकडो-हजारो के परीक्षक तुम कैसे बन जाते ? भला यह भी कोई प्रश्न है ?

साफ ही उनका यह भ्रम है। वे नही जानते कि परीक्षा लेने का परीक्षा देने से कोई सम्बन्ध नही। परीक्षा तो चाहे जो, चाहे जब, चाहे जैसे, चाहे जिसकी ले सकता है।

दूसरो को सजा देनेवाले न्यायाधीश के लिए यह आवश्यक थोडा ही है कि वह खुद भी सारी सजाएँ काट चुका हो। यह मोती खोज निकालने-वालो का धन्धा तो है नही कि बिना खुद गोता लगाये मोती हाथ ही

न आयें। किसीका फैसला देने या किसीकी परीक्षा लेते समय कहाँ गहरे जाने की ज़रूरत होती है ?

परीक्षक, तुम्हारा काम तो दूसरो के छिपे-पडे अज्ञान को टटोलना है। तुम तो सिर्फ इतना देखना चाहते हो कि उसके अन्दर अज्ञान कहाँ-कहाँ छिपा पडा है।

तुम्हे यह नही देखना कि उसमे ज्ञान का अश कितना है। यह खोज तो स्वय परीक्षार्थी करे।

परीक्षा यो कोई नई शोध नही। परीक्षा पहले भी होती थी, पर तब उसका इतना अधिक विकास नही हुआ था। तब की वे परीक्षाएँ वर्वर युग की याद दिलाती हैं। परीक्षको की निष्ठुरता सामने आती है, तो जी काँप उठता है।

विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र की परीक्षा ली थी, राम ने सीता की, कृष्ण और अर्जुन ने मोरध्वज की, और इन्द्र ने शिवि की। सब-के-सब वे कैसे जालिम परीक्षक थे!

वे जीवन की परीक्षा लेते थे, जबकि तुम मनुष्य की बौद्धिक योग्यता को परखते हो, और वह भी एक खासे अच्छे वैज्ञानिक ढग से।

उन पुराने परीक्षको के पास कहाँ था परीक्षा का कोई सही पैमाना? ज्ञान को मापने का तुम्हारे पास, जबकि, एक अद्‌भुत फीता है, जिससे तुम परीक्षार्थी के मस्तिष्क को निश्चित अको से सही-सही माप लेते हो।

तुम्हारी निर्णय-बुद्धि की ओर कोई अँगुली नही उठा सकता। तुम हजारो ही परीक्षार्थियो की योग्यता को खूब बारीकी से माप लेते हो। तुम्हारे चेहरे पर की रेखाएँ स्पष्ट बतला देती हैं, कि किस परीक्षार्थी ने तुम्हारे दिये प्रश्न को किस तरह हल किया है।

तुम्हे आश्चर्य होता है कि प्रश्नो का तुम स्वय जैसा उत्तर लिखते, वैसा परीक्षार्थी ने क्यो नही लिखा, तुम्हारी सरीखी योग्यता उसमें आखिर क्यो नही आई!

सयोग से किसी प्रश्न का उत्तर देने से यदि छूट जाये, या अको का

जोड गलत लग जाये, या उत्तर-पुस्तक जाँचते समय ध्यान तुम्हारा कही इधर-उधर चला जाये, तो तुम थोडे ही परीक्षार्थी की अनुत्तीर्णता के लिए दोषी ठहराये जा सकते हो।

और वह कमबख्त असफल विद्यार्थी रेल की पटरी पर लेटकर जान देदे, तो उसकी अकाल मृत्यु के जवाबदेह तुम थोडे ही हो सकते हो।

तुमने तो अनासक्त भाव से अपने हाथ मे योग्यता-अयोग्यता मापने का फीता पकड रखा है,—माप लेते समय सूत-दो सूत वह इधर का उधर हट जाये, और उससे कोई अक्लमन्द परीक्षार्थी आत्मघात कर बैठे, तो उसे 'सयोग' ही कहा जायेगा, परीक्षा की वैज्ञानिकता को उससे सदोष कैसे कहाँ जा सकता है ?

और तुम्हारा वह 'सयोग' हमेशा ही घातक नही होता, किसी-किसी के हक मे तो वह श्रेयस्कर भी सिद्ध होता है। तुम्हारी अको की उस आकस्मिकता मे निपट अयोग्य भी कभी-कभी खासा योग्य बन जाता है।

कभी-कभी तुम उदारता की लहर मे आकर 'कृपाक-दान' से भी काम ले लेते हो। आशय यह कि उन पुराने बर्बर परीक्षको से तुम बहुत आगे निकल गये हो।

परीक्षा लेने की तुम्हारी वैज्ञानिक पद्धति को इधर कुछ मनचले आलोचको ने अप्राकृतिक और गलत कहा है। पर तुम उनकी आलोचना से कभी विचलित नही हुए, और न कोई कारगर परीक्षा-पद्धति ही वे आलोचक अबतक निकाल पाये है। उनकी आलोचनाओ पर तुमने कभी गौर से विचार भी नही किया। परीक्षा तुम्हे खुद तो देनी नही, इसलिए परीक्षा-पद्धति पर पुनर्विचार की जरूरत भी नही

परीक्षक, तुम्हारे महान् श्रम को अबतक तो सफलता-ही-सफलता मिली है, साथ ही, विवेक और न्याय को प्रोत्साहन भी।

और, स्वय तुम्हारे आलोचक भी तुम्हारे हाथ से प्रमाण-पत्र पाने की अभिलाषा रखते है।

विज्ञानी से

ज्ञान को तुमसे एक नया ही प्रकाश मिला है, तुम्हारी बदौलत उसने एक विशेष अर्थ पाया है, नही तो वह 'विज्ञान' मे कैसे रूपान्तरित हो सकता था।

तुम ज्ञान की किरणो मे आलोकित नही हो रहे हो, बल्कि ज्ञान का सूर्य तुममे यह नया-ही-नया प्रकाश पा रहा है

पुरा काल के वे ज्ञान-शोधक सशयास्पद 'आत्मा' के अधकच्चे ज्ञान को ही विज्ञान मान बैठे थे। उनके उस विशिष्ट ज्ञान की दौड, बस, एक आत्मा, या बहुत हुआ तो परमात्मातक ही सीमित थी।

आगे चलकर तो उन्हे स्वय अपने द्वारा सस्थापित विज्ञान के प्रति शका पैदा हो गई, और दिङ्मूढ हो वे विचित्र विज्ञानी जोर-जोर से 'नेति, नेति' चिल्लाने लगे।

जिस भौतिक ज्ञान के प्रति उन पुराने सत्य-शोधको ने आलस्य और उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया था, तुमने उसीको बुद्धिवर्द्धक 'विज्ञान' की सुन्दर सज्ञा दी, और फलत उसी क्षण विज्ञान के उस रूढ अर्थ का अन्त हो गया।

तुम्हारे नये-नये प्रयोगो और अद्भुत आविष्कारो से भौतिक जगत् म तहलका मच गया। तुमने अपने तीक्ष्ण नखो से पृथिवी का पेट चीर डाला, आकाश को विक्षुब्ध कर दिया, सागर तुम्हारे आतक से खलभला उठा, वायु का श्वास अवरुद्ध हो गया।

पृथिवी, वायु, जल, अग्नि या विद्युत् किसीभी तत्त्व को तुम्हारी अवज्ञा करने का साहस नही हुआ। तुम्हारे सामने सारी ही भौतिक शक्तियाँ हाथ बाँधकर खडी हो गईं। तुम्हारी विज्ञान-मायाने मानव को देखते-देखते 'अतिमानव' या 'विमानव' बना डाला।

तुमने प्रकाश के, ध्वनि के, वायु के और परमाणु के जिन प्रकार परीक्षण और पृथक्करण किये, उन्हे देख-देखकर अँगुली दाँतो तले से निकलती ही नही। साकार का ही नही, निराकार का भी तुमने एक-एक पुर्जा खोल डाला। तुम्हारे महान् प्रयत्न और पुरुषार्थ की जितनी भी स्तुति की जाये, थोडी है।

तुम सारे ही विश्वब्रह्माण्ड की बात घर-बैठे सुन लेते और सुना देते हो। आत्म-दर्शन का दावा पेश करनेवालो की तरह अपने अन्दर की आवाज सुनने का तुम हास्यास्पद प्रयास नही करते।

मगर इन महान् आविष्कारो के आने से पहले ही अध्यात्मवादियो ने अपनी दुर्बल कल्पना के सहारे इनका मजाक उडाना शुरू कर दिया था। इतनी ऊँची भौतिक सिद्धियो को, यदि वे आज होते तो, अविद्या या माया का खेल बतलाकर इन्हे योही हँसी मे उडा देते। आश्चर्य है कि उस प्रकार के अनिर्वचनीय विचार रखनेवाले बचे-खुचे चंद आत्मशोधक आज भी तुम्हारे अलौकिक आविष्कारो की अवगणना कर रहे है !

अच्छा हुआ कि तुमने उनके हँसन पर कभी ध्यान नही दिया। मानने दो उन्हे अन्तरात्मा को ही सारी सिद्धियो का आदिस्रोत ! उनके असिद्ध विचित्र अनुमानो पर प्रत्यक्षवादी विज्ञानी ध्यान देने का नही। उनके अध्यात्मयोग के चक्कर मे बुद्धिशाली दुनिया फँसने की नही।

भौतिक आविष्कारो के प्रत्यक्ष आनन्द-लाभ के आगे असिद्ध आत्मा के कल्पित आनन्द को तरजीह देना बुद्धि का यह दिवालियापन नही तो क्या है ?

तुम्हारा उन्होने मजाक उडाया, तो तुमने उनसे बदला भी तो पूरा-पूरा ले लिया। तुम्हारा पदार्थ-विज्ञान उनके पुराने-धुराने अध्यात्म की आज पग-पग पर खिल्ली उडा रहा है। रसायन-शास्त्र का विद्यार्थी उनके 'ब्रह्मरस' का उतना भी मूल्य नही आँकता, जितना कि अपनी प्रयोगशाला की बोतल का।

सत्य का मूल्य चूँकि तुमने वैज्ञानिक परीक्षणो द्वारा निश्चित किया है, अत अब आचरण का निर्बल सहारा लेकर सत्य की शोध करने की आवश्यकता नही रही।

तुम्हारे उत्पादक मस्तिष्क ने एक-से-एक आश्चर्यकारक यन्त्रो का आविष्कार कर जड को चेतन के सिर पर आरूढ करा दिया है।

अध्यात्म-युग के विज्ञानी जहाँ तृष्णा और परिग्रह के क्षय करने की वाहियात सलाह देते थे, तहाँ तुम्हारे यन्त्र-युग मे तृष्णा तथा उत्पादन-वृद्धि को अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन मिला है। ज्ञान के चरम विकास

का यही तो सबसे बडा अकाट्य प्रमाण है ।

तुम्हारी चमत्कारी कलो ने उपनिषदो के 'निर्वाण-पद' को कितना सुलभ कर दिया है, इसकी कल्पना शायद तुम्हे भी न हो । 'बेकार' होकर अर्थात् कर्म के कुचक्र से छुटकारा पाकर 'कलयुग' मे तुम्हारे आविष्कारो ने निर्वाण ही नही, महानिर्वाणतक लाखो मनुष्यो को अनायास उपलब्ध करा दिया है ।

श्रम करते-करते सृष्टि के आदिकाल से ही मनुष्य की मजबूत कमर जैसे टूटी जा रही थी । हाथ-पैर तो उसके कभी के घिस-घिसा गये थे । तुमने उसे हाथ-पैर हिलाने-डुलाने से छुट्टी देकर विश्रान्ति देदी ।

शारीरिक श्रम का दबाव न पडने से मनुष्य के दिमाग को भी काफी फुरसत मिली । वह खुल गया । उत्पादन बढाने और शोषण पनपाने की नई-नई योजनाएँ अब उसने सोची । प्रतिस्पर्धा को तुम्हारे आविष्कारो से बेहद प्रोत्साहन मिला । तुम्हारे मस्तिष्क मे महोत्सव की लहरे दौड गई, और उस मगल वेला में प्रतिस्पर्धा ने स्वभावत विनाश को भी शरीक कर लिया ।

विज्ञान ने तुम्हे परीक्षणो के सिलसिले मे सत्य की स्पष्ट झलक दिखादी, पर उसका जीवन के साथ मेल बिठाना तुम्हे रुचिकर नही लगा ।

तुमने अपना एक दूसरा ही मार्ग चुना । विज्ञान के सहारे तुम प्रकाश से तमस् की ओर चले, अमृत से मृत्यु की ओर बढे । तुम्हारी यह क्रान्ति-यात्रा कोई मामूली साहस की यात्रा नही थी ।

वैज्ञानिक रीति से जीने के लिए तुमने विलास और विनाश को एकसाथ ही निमन्त्रण दिया । तुमने सिद्ध कर दिया कि जीवन तो सघर्ष एव सहार के मूल मे सन्निहित है । तुम मृत्यु की विभीषिका से डरे नही ।

मृत्यु से सतत भयभीत रहनेवाले सुरो और असुरो ने 'अमृत' निकालने के लिए सागर का मन्थन किया था । विष तो वह अनायास

ही उनके हाथ लग गया था, जिसे उन्होने अपनी मणि-मजूषा मे रखा नही ।

तुमने उससे उलटा ही किया। मस्तिष्क के महासागर को विज्ञान की मथानी से मथकर तुमने प्रयासपूर्वक हालाहल निकाला। इस महाप्रयत्न मे थोडा-सा अमृत भी हाथ लग गया, पर उसे तुमने निकम्मी चीज समझकर फेक दिया, जैसे देवो और दैत्यो ने विष को फेक दिया था ।

विष-प्रयोग की तुम्हारी महत्त्वाकाक्षा मे नीति कुछ बाधा डाल रही थी,—उसे अर्थवाद के नीचे तुमने कौशलपूर्वक दबोच दिया ।

विश्व की रक्षा और व्यवस्था की खातिर, पवित्र उद्देशो से प्रेरित होकर, तुमने विश्व-सहार की नई-नई योजनाएँ रची। जीने की खातिर मृत्यु को सप्रेम आमन्त्रण दिया।

इस उद्देश-सिद्धि के अर्थ तुमने महाप्रलय की अग्नि उगलनेवाले अणु-आयुधो का निर्माण किया, जहरीली गैसो के कोप सचित किये, समुद्र के गर्भ मे महाकाल का भयानक जाल बिछा दिया ।

मालूम नही, तुम्हारे प्रयोग और आविष्कार विकसित होते-होते अभी और कहाँतक पहुँचे। भविष्य में तुम्हारे वैज्ञानिक मानव की कैसी क्या शक्ल होगी, इसका तो तुम्हे ही शायद आज पता न हो।

कल्पना को खीच-खीचकर बढाया-फैलाया जाये, तो शायद वह विज्ञान मानव वहाँतक पहुँच जाये, जहाँ तुम्हारा विज्ञान उसे एक 'अनावश्यक' प्राणी घोषित करदे, और वह अनावश्यक प्राणी दुनिया मे अवकाश प्राप्त करते-करते अपने मुक्तिदाता विज्ञान को सदा के लिए दफना दे, और इस तरह दोनो की दोनो मे परिसमाप्ति हो जाये।

वैज्ञानिक ! तो क्या तुम उसी मगल विकास की प्रतीक्षा मे खडे हो ?



आश्रमवासी से

तब उन दिनो, बहुत पहले, 'आश्रम' शब्द की संकुचित, बल्कि, भ्रामक व्याख्या की जाती थी। सुनते हैं, आश्रम तब उस स्थान को कहते थे, जहाँ कोई-न-कोई आध्यात्मिक साधना हुआ करती थी।

अच्छा हुआ कि तुमने उस संकुचित और भ्रामक व्याख्या को भी, कई अनेक चीजो की तरह, व्यापक और निःसंशय बना दिया। आज तो बहुत करके उस स्थान को आश्रम कहते हैं, जो बहुधा राजनीति के पवित्र वातावरण से आच्छन्न रहता है, जहाँ अधिकतर भौतिक विषयो पर विचार-विनिमय होता है, किंतु आध्यात्मिकता को तिरस्कार की दृष्टि से नही देखा जाता।

तब के साधक घोर अरण्यो में अपने आश्रम बनाते थे, और इसी-लिए उन अरण्यवासियो के जीवन के अनुभव-संवाद आरण्यक, या अधिक

स्पष्ट और शिष्टभाषा मे कहा जाये तो जगली सवाद कहे जाते है ।

तुम्हे लगा कि इस भारी भूल का सशोधन तो होना ही चाहिए, अत तुमने अपने आश्रमो का निर्माण बडे बडे नगरो के पार्श्व मे जाकर किया, और वहा बैठकर नागरिक विज्ञान की या शिष्ट-शास्त्र की रचना की है ।

नामकरण तब एक पृथक् सस्कार तो माना जाता था, पर सार्थक नामो का खोजना उन्हे ठीक-ठीक ज्ञात नही था । आज की तरह तब आश्रमो के ऐसे-ऐसे सुन्दर नाम नही रखे जाते थे, जैसे कहाँ था तब कोई 'शाति-सदन', 'सत्य-आश्रम', 'सेवा-निवास', 'कर्म-कुटीर' या साधना-मन्दिर' ?

कणो और पीपलो को बीन-बीनकर भक्षण करनेवाले दरिद्र कणाद और पिप्पलाद अपने आश्रमो के ऐसे-ऐसे मनोरम नाम रख भी तो नही सकते थे ।

साथ ही, इन मनोज्ञ नामो का तुमने अर्थ भी खासा व्यापक बना दिया है । तुम्हारे किसी साधना-मन्दिर मे अर्थ-विस्तार-योजना पर गम्भीर विचार होता है, तो किसी शान्ति-सदन मे चुनावो की चर्चा चला करती है ।

इसीलिए तो उन आरण्यको के वाद-विवाद के विषय इन अत्यन्त सरस चर्चाओ के आगे महानीरस और निरर्थक प्रतीत होते है ।

तब शायद लोक-सेवा भी इतने अधिक विस्तार से नही की जाती थी । सेवा-धर्म को 'योगिनामप्यगम्य' कहकर, मालूम होता है, वे अरण्यवासी तब बहुत करके उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे । काष्ठ और पाषाण के सम्पर्क मे रहने से उन्हे लोक-सेवा-सदृश सुगम्य साधना भी अगम्य ही मालूम देती थी ।

अच्छा हुआ कि तुम अर्वाचीन आश्रम-वासियो ने उन पुराने-धुराने भ्रम का भी निवारण कर दिया ; सेवा-धर्म तभी तो आज इतना सहज और सर्व-सुलभ बन गया है ।

हाँ, कहाँ थे तब लोक-सेवा-कर्म के इतने तमाम विशाल सघ, इतने जोरदार सगठन ? तुम सहज मे सैकडो-हजारो सेवको का निर्माण कर सकते हो। निर्धारित सेवा-पत्र पर हस्ताक्षर कर देनेमात्र से कोई भी आज लोक-सेवक बन सकता है।

अरण्यवासियो का हृदय इतना अधिक सकीर्ण था कि वे केवल अपनी ही बुद्धि और अपने ही उद्धार पर जोर दिया करते थे, तहाँ, तुम उदारहृदय आश्रम-वासी राष्ट्र और विश्व की विशुद्धि और उद्धार का विराट् आयोजन रच रहे हो। कारण, तुम्हारी दृष्टि मे व्यापक क्षेत्र मे साधा गया प्रयास ही परम पुरुपार्थ है।

उन्होने कल्पित अदृष्ट आत्मा को पखारने, माँजने और सँवारने मे पुरुपार्थ माना था। तहाँ, तुमने उपेक्षित काया की सेवा-साधना मे श्रेयस् माना है। 'शरीरमाद्य खलु धर्म-साधनम्' इस आर्प वचन का ठीक-ठीक अर्थ समझने का प्रयत्न तुम आश्रम-वासियो ने ही किया है।

उन आरण्यको की तरह तुमने काया को व्यर्थ कसा या बाँधा नही, शरीर और स्वास्थ्य की तुमने हमेशा चिता रखी। किंतु स्वास्थ्य भी यह कैसा अकृतज्ञ है कि कमवख्त सदा रूठा ही रहा। न इसने तुम्हारे शास्त्रीय प्रयोगो की पर्वा की, न तुम्हारी सतत शरीर-सेवा का ही कुछ एहसान माना!

इस कृतघ्न आरोग्य की खातिर तुमने सैध्दान्तिक मतभेद रखते हुए भी विभिन्न चिकित्साओ को अभेद-दृष्टि मे ही देखा, पर ज्यो-ज्यो इस की खुशामद की, यह रूठता ही गया।

तुम्हारी गोष्ठी के वाद-विवाद का विपय प्राय खाद्य वस्तुओ के नये-नये प्रयोगो का रहता है,—जैसे, दूध, दही और फलो के रस का शास्त्रीय विवेचन, मिर्च-मसाले का विकट बहिष्कार, कच्चे और उबले सागो के बीच का घातक अतर, विविध विटामिनो का सूक्ष्मतम विश्लेपण इत्यादि।

तुम्हारा अतिशय प्रिय विषय अत स्वास्थ्य-सुधार है,—वैसा ही, जैसे

धर्म-सुधार, समाज-सुधार, ग्राम-सुधार आदि । स्वास्थ्य तुम्हारा मकड-जाले के तारो पर चूंकि आधार रखता है, इसलिए उसकी साधना भी तुम सूक्ष्म विश्लेषणो द्वारा किया करते हो ।

तुम जब किसी ग्रामीण गृहस्थ के घर पर समय-असमय उसके सौभाग्य से पहुँच जाते हो, तो तुम्हारा सादा सात्विक भोजन जुटाना उसके लिए एक समस्या बन जाता है । और यदि तुम्हारे जैसे दो-चार प्रयोग-प्रेमी अतिथि कही पहुँच गये, तब तो उसके आनन्द-उत्साह का कुछ पार ही नही रहता !

और यह कैसी बात है कि जो बहुत-से काम ग्रामीण गृहस्थो के घरो मे रोज-रोज होते रहते है, उनकी तरफ तो तुम्हारा ध्यान भी नही जाता, और उन्ही चीजो के जब तुम अपने आश्रमो मे कच्चे-पक्के प्रयोग करते हो, तो उनके समर्थन मे तुम्हारे बडे-बडे दावे सामने आने लगते है ? अद्भुत है कि किसी गृहस्थ के सामान्य घर को किसीने आजतक आश्रम नही कहा ।

कहते है कि परिग्रह से तुम तो पिंड छुडाना चाहते हो, पर तुम्हे वही कमबख्त नही छोडता । तुम्हारे इस प्रेमाकर्षण की फिर कोई क्यों टीका-टिप्पणी करे ?

और जो स्वाभाविक है, उसकी टीका-टिप्पणी करने से कोई लाभ ? आश्रम-जीवन के साथ परिग्रह का होना अस्वाभाविक नही और फिर यह बात भी तो नही कि असग्रह हमेशा ही श्रेयस्कर होता है ।

लोग अत्यधिक आशा आखिर आश्रम-वासी से रखते क्यो है ? उनकी दृष्टि मे क्या केवल कौपीन-कमडलधारी मानव-प्राणी ही आश्रम-वासी हो सकता है ?

यह अत्यधिक संतोष की बात है कि लोगो की-टीका की तुम पर्वा नही करते ; और यह कोई तुम्हारी असाधारण साधना नही ।



युवक से

जैसे कवि है, कलाकार है, सैनिक है, नेता है, वैसे ही तुम्हारा भी एक सुव्यवस्थित स्थान है। तरुण, तुम्हारा भी अपना एक सप्रदाय है, अपना एक विज्ञापन है।

वैसे यौवन कोई नई चीज नही, अस्तित्व उसका सनातन से चला आ रहा है। पर पुराकाल मे उसका कोई विशिष्ट सप्रदाय नही था, सुयोजित विज्ञापन तब उसका दुनिया के सामने नही आया था।

वृद्धो ने सदा तुम्हारी अप्रिय ही टीका की, फिरभी तुम्हारे पूर्वकालीन युवक उनकी टीका से रुष्ट नही हुए । शायद उनके सक्रामक असर से वे अकालवृद्ध हो जाते थे । आत्मदुर्बलता-द्योतक शील उनके तारुण्य को अन्दर-ही-अन्दर खोखला करता चला जा रहा था, और उन्हे उस महान् क्षय का पता भी नही चलता था ।

बाद को तुम्हे अपने पूर्व के युवको की यह दुर्बलता नजर आई, और यौवन-पुष्प को पूर्ण विकसित कर देनेवाली अविनय-उषा को तुमने प्रगाढालिगन दिया ।

तुम्हे यह सत्य सूर्यवत् स्पष्ट हो गया कि शील और विनय के रहते, जो निश्चय ही बुढापे के सहचर है, यौवन का मादक पुष्प कभी खिल नही सकता ।

विनय की खुरदरी रस्सी से जीर्ण-शीर्ण शरीर ही आबद्ध रह सकता है । युवक-शक्ति के जोरदार झटके को दुर्बल विनय कहाँ सहन कर सकती है ?

तरुणाई तो वह प्रबल बाढ है, जो शील और विनय के जीर्ण ठूँठो को सहज ही बहा ले जाती है ।

विनय के जोर से गलितयौवन ही झुकते है । शक्तिधर तारुण्य को झुकाने की कहाँ उसमे ताकत है ? उद्दण्डता उसका भूषण है और नम्रता दूषण ।

आँखो पर आवरण न चढा हो, वह युवक ही कैसा ? तुम्हारी उत्तान आँखो मे खुमारी का भरा रहना स्वाभाविक है । इसीलिए सीधा पैर रखना तुम्हारे शास्त्र मे अधर्म है । यौवन जिनका गलित हो चुका है, वही नाप-नापकर या फूँक-फूँककर पैर रखते है । कूद-फाँद करनेवाले अल्हड युवक जमीन की तरफ देख-देखकर नही चला करते ।

गभीर विचार और उच्च चितन तुम्हारे सामने आने की जुर्रत नही करते । तुम इन मानसिक दोषो से सदा सावधान रहते हो । तुम मानते

हो कि विचार और चितन से यौवन में शैथिल्य आ जाता है, उसकी सहज तेजस्विता मारी जाती है ।

सर्वत्र ही तुम खूब खुलकर खेलते हो। न तो किसीको बाँधना चाहते हो, न स्वय बँधना चाहते हो। नियत्रण का पाप-भार तुमने कभी सहन नही किया।

तरुण शक्तियो को तुम अत्यन्त उदारता से खर्च करते हो। सयम-शीलता, तुम्हारी दृष्टि मे, कृपणता नही तो क्या है ?

तरुण कभी कृपण नही हुआ करता। और जो हृदय का उदार है, उसका क्या सरोकार विचार और चितन से ? सोचते-विचारते तो कृपण जन हैं, जिन्हे सदा शक्ति-सचय का ही लोभ रहता है ।

बाढ ने कभी ठहरना नही जाना, उसने सदा वेग को ही पहचाना है। ठहरना, रुकना और सडना तो पोखरे के जीर्ण जल का धर्म है।

यो तुम्हारे विपक्ष मे भी काफी कहा गया है। किंतु आलोचना के आघातो से जगत् मे बचा ही कौन है ?

एक भारी आरोप तो तुम्हारे ऊपर यह किया जाता है कि तारुण्य ने विषय-विकारो को बेतरह उत्तेजन दिया है। सही है, पर विकारो को निन्दित और त्याज्य क्यो माना जाये ?

विषय-विकारो को यदि तुम बलपूर्वक रोकना या निर्दयता से बाँधना नही चाहते तो क्या यह कोई गुनाह है ? स्वाभाविक है कि युवक का सरस हृदय अपने किसी विकार पर अकुश नही रखना चाहता। यौवन का तकाजा है कि तुम निरकुश विचरो, और तुम्हारे मनोविकार भी सदा सर्वथा स्वच्छन्द विचरे ।

फिर तुमने सभी मनोविकारो को बिना भेद के एक समान ही उत्तेजन दिया है। कभी काम को हृदय से चिपटाया, तो कभी क्रोध को, इसी तरह कभी विराग को और कभी अनुराग को। तुमने अहंकार और द्वेष से भी घृणा नही की। मोह को भी सदा तुमने प्यार ही किया और

इसी प्रकार मात्सर्य को भी। मनोविकारो के प्रति फिर तुम्हारे निष्पक्ष प्रेम की क्यो कोई टीका-टिप्पणी करे ? तुम्हे तो सभी मनोविकारो के अगीकार मे एकसमान ही आनन्दानुभव होता है।

विचार तो ठडे मट्ठे के जैसा है, उसे तुम क्यो ग्रहण करोगे ? तुम्हें तो स्वभावत गरम चाय के जैसा उत्तेजक विकार-पेय ही प्रिय होना चाहिए।

तुम जानते हो कि यौवन की सुखद यात्रा मे एक-न-एक 'रोमास' का होना आवश्यक है। रोमासहीन यौवन तुम्हारी दृष्टि मे विना गन्ध का फूल है।

चढती हुई जवानी मे उस प्रेम का होना जरूरी है, जिसे बूढे आलोचको ने मोह और पाप कहा है उस जोश का होना उसमे अनिवार्य है, जिसे उन ईर्ष्यालु टीकाकारो ने अविचार और दुस्साहस समझा है, उस स्वातत्र्य का होना उसमे आवश्यक है, जिसे उन्होने अविनय और अनियत्रण का नाम दे रखा है।

और सच पूछा जाये तो इन्ही ऊँचे तत्त्वो से यौवन का निर्माण होता है। यौवन के सुनहरे स्वप्न इन्ही तारो से वुने जाते है, क्योकि युवक तो सदा स्वप्न ही देखता है , न कभी वह सोता है, न जागता है। सोते तो अबोध शिशु है, और जागने है चिताजर्जरित वृद्ध जन।

स्वप्न भी तुम्हारे गजब के होते है। कभी तो तुम तेजाव के जैसे प्रणय के सुखद वायुमण्डल पर तैरने लगते हो, और कभी द्वेप के शातिप्रद दावानल को प्रगाढालिगन देने लग जाते हो। तुम्हारे राग और तुम्हारे विराग दोनो के ही स्वर्ण-स्वप्न मधुमग्न देखे गये है।

तुम एक ही क्षण मे अपना तन, अपना मन और अपना सर्वस्व कोमल-कठोर वासनाओ के श्रीचरणो पर अर्पण कर देते हो। तुम अपने यौवन-काल मे कवि-जगत् की नई-पुरानी उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ का प्रयोग करते-करते कभी थकते नही।

तुम्हारी मान्यता है कि कमबख्त मनुष्य-योनि प्रेम-तत्त्व को प्रकट करने के लिए उपयुक्त नही। इसलिए तुम कभी तो भ्रमर और कीट बन जाते हो, तो कभी चकोर और चातक, और कभी मीन और मयूर! ठोस आलोचक तुम्हारे उन्मुक्त कल्पना-विहार को मोह और अस्वच्छता के पक्ष में सना भले ही देखे, तुम तो अपनी जबान और कलम से उसे शुद्ध एव दिव्य प्रेम ही कहोगे।

'दिव्य' की व्याख्या भी तुम्हारी अनूठी है। तुम स्वर्ग को भी देखते हो, तो शैतान मे। तुम्हारे ईश्वर का वास वासना मे है, अत तुम्हारी प्रत्येक वासना दिव्य है। जिसे कि वे नरक मानते है उसे तुम स्वर्ग कहते हो, और जिसे वे स्वर्ग समझते है, उसे तुम नरक कहते हो। वृद्ध-दृष्टि और युवक-दृष्टि मे यही तो मौलिक अन्तर है।

जो जैसा हो उसको वैसा ही देखना या मानना युवक का धर्म नही। यथार्थ दर्शन तो जड या स्थिर बुद्धिवालो का व्यापार है। स्थिरप्रज्ञता का दोष तुम तरुणो मे क्यो खोजा जाये?

तुम्हारे एक-एक शब्द को वज्र के हथौडे ने गढा है, यद्यपि होता वह मोम का है। जब तुम बोलते हो, तुम्हारी शब्द-योजना तब अत्यन्त भीषण और मोहक होती है।

तुम्हारा स्वाभाविक गुण अहकार फूला नही समाता, जब तुम छाती ठोक-ठोककर कहते हो—

"सागर को मै श्वास के स्फुलिगो से ही सुखा दूँगा, हिमाद्रि की पसलियो को अपने वज्र-मुक्के से चूर-चूर कर दूँगा।

मेरे गम्भीर गर्जन से पृथ्वी थर-थर काँपने लगेगी,

सूर्यमडल को तो मै एक ही झटके से नीचे गिरा दूँगा,

मै युवक हूँ, मै विप्लव का प्रलयकर रक्त-दूत हूँ।"

यथार्थवादी आलोचक तुम्हारा सिहनाद सुनकर शायद कह उठे—'यह सब तो उन्मत्त-प्रलाप है। न तो सागर ही कभी सूखा, न हिमाद्रि की

पसलियाँ ही चूर-चूर हुई; न पृथ्वी ही कुछ डगमगाई, और न सूर्यमडल ही एक-दो इच खिसका।"

आलोचक बेचारा इसीलिए गडबड मे पड जाता है कि वहत रुणो की अतुकात कविता का अर्थ ठीक-ठीक समझता नही। गणित का दुर्बल ज्ञान रखनेवाला ठोस आलोचक युवक के रोमाचकारी भावो और भापा का अर्थ भला कभी समझ सकता है ?

अहकार और मनोविकारो को दबाने या दफना देने का दुर्भाग्यपूर्ण प्रयत्न करनेवालो की घातक वुद्धि तुम्हारी कठिन-कोमल भापा के अत-स्तल मे प्रवेश पा ही नही सकती।

कई पूर्वकालीन युवको ने पथभ्रष्ट होकर अपनी यौवन-सम्पत्ति को कठोर तपश्चर्या की अग्नि मे झोक दिया था। यौवन-काल के आरभ मे ही वे रोग, जरा और मृत्यु की थोथी कल्पना से भयभीत हो उठे थे। जीवन के रमणीय वसन्त मे उन अभागो ने अपने हाथो आग लगा दी थी, और इसी तरह रक्त-सघर्ष से भी पीछे कदम हटा लिया था।

आश्चर्य कि उलटी खोपडी के कुछ स्तुतिकारो ने उनके ऐसे-ऐसे युवक-विरुद्ध आचरणो की भी महिमा गाई ! उन अकालवृद्ध युवको की नीरसता को वडी शान से 'मार-विजय' का नाम दिया गया और उनकी कायरतामूलक शाति-यात्रा को विश्व-विजय के नाम से पुकारा गया।

युवको को उनके इस कुकृत्य से शर्मिन्दगी उठानी पडी।

उनके उन अनुचित कृत्यो का इसीलिए आज तुम्हे भारी प्रायश्चित्त करना पड रहा है। काम और क्रोध को अपने रक्त से सतत खीच-खीच-कर उस ऐतिहासिक कलक को आज तुम्हे धोना पड रहा है।

तुमने तार दिया पूर्वकाल के उन पथ-भ्रष्ट तरुणो को। तुम धन्य हो, तुम्हारा जीवन-क्रम सचमुच स्तुत्य है।

वृद्ध से

लोगो का घोर अज्ञान ही है यह, जो उनसे कहलाता है कि तुम वृद्धावस्था के काल-दण्ड से हर घडी परेशान रहते हो। तुम्हारे श्वेत केशो और निर्दन्त मुँह ने तो तुम्हे आज बालको और युवको की दृष्टि मे बिना प्रयास के ही श्रद्धा-भाजन बना दिया है।

ये शुभ दिन तुम्हे कितनी प्रतीक्षा के बाद देखने को मिले है, इसका अनुमान आलोचक युवको को हो नही सकता। दूसरो से सेवा लेने की तुम्हारी वह सुन्दर जीवन-साध आज जाकर कही पूरी हुई।

शरीर यो शिथिल न पड गया होता, तो दूसरो से सतत सेवा लेने का यह सुयोग तुम्हे मिलता ही कहाँ ? उन्हे भी तो तुमने कृतार्थ किया है, जिन्हे सेवा करने का यह स्वर्ण अवसर हाथ लगा है।

निरन्तर सेवा लेते-लेते उनके धैर्य की तुम कडी परीक्षा भी तो ले रहे हो। अत परेशान तो सेवक ही हो सकता है, सेव्य कदापि नही।

अच्छा है कि तुम उनकी सेवा-शुश्रूषा से कभी संतोष नही मानते।

तुम्हे आशका बनी रहती है कि सतोष प्रकट करने से कही उनकी गति मन्द न पड जाये, और इस तरह वे कृतकृत्य होने के महान् पुण्य मे वचित हो जाये।

मगर सेवा-व्रती भी ऐसे-ऐसे शूरवीर मिल जाते है, जो तुम्हारे

असन्तोष को पराजित करके ही छोडते है। वे समझ लेते है कि तुम रीझोगे तो केवल सेवा-सुश्रूषा से ही, तुम्हारी वृद्धा बुद्धि के आगे नई-नई दलीले काम नही देगी।

क्या बात है कि युवको के हर काम मे तुम कुछ-न-कुछ दोष खोजते रहते हो ? अपने लम्बे घिसे-पिसे अनुभवो के आगे तुम्हे उनका हरेक काम अधूरा ही दिखता है क्या ?

और वे भी कैसे मूर्ख है, जो तुम्हे मन्द दृष्टिवाला समझकर धोखा देना चाहते है। कमबख्त यह नही जानते कि तुम बूढो की दृष्टि को ईश्वर ने चार-चार कान दिये है। देखने का काम तुम कानो से चला सकते हो, और सुनने का काम आंखो से।

अद्भुत है कि तुम्हारी एक इन्द्रिय शिथिल पड जाती है, तो दूसरी इन्द्रिय मे तेजी आ जाती है। जिह्वा मे तो ऐसी स्फूर्ति और जवानी कि, देखकर आश्चर्य होता है। तुम्हारी वाणी का प्रवाह रुकना नही जानता। सुननेवाला कोई न भी हो, तबभी बोलना तुम्हारा उसी निर्बाध गति से सतत जारी रहता है।

स्वाद की परिपूर्ण रसज्ञा भी तुम्हारी ही जिह्वा होती है, क्योकि बालक को तो कुछ भी ले-देकर फुसला लिया जासकता है, और युवक को उसके यौवन की मस्ती भुलावे मे डाले रहती है, लक्कड-पत्थर भी वह चबा जाता है, और स्वाद का उसे पता भी नही चलता।

तुम कितने अधिक सहृदय हो कि जर्जरीभूत काया के प्रति भी तुम्हारी मोह-माया दिन-दिन बढती ही जाती है। जिस देह ने तुम्हे तीनो पनो मे बेहद सुख पहुँचाया, उसके प्रति चौथे पन में अत्यधिक अनुराग का होना स्वाभाविक भी है। देह के प्रति विराग तो विरले ही किसी कृतघ्न वृद्ध को होता होगा।

युवावस्था मे किसी रोचक 'रोमास' के फेर में पडकर दुनिया को भले ही तुमने कभी मिथ्या माना हो, पर वृद्धावस्था मे तो तुम उसे सत्य और सुखद ही मानते हो। ससार से ऊबकर आत्मघात अधिकतर

अधीर युवक ही किया करते हैं, प्रवुद्ध वृद्धजन ऐसा पाप-कर्म कभी नहीं करते।

तुम खीज उठते हो कि लोग तुम्हे राम-नाम जपने का उपदेश क्यो देते है ? जिसकी आँखो के सामने सारे जीवन का लेखा-जोखा रहा हो, कितने ही अधूरे काम करने को पडे हो, और बुढापे मे आराम से कुछ सोचने की फुर्सत मिली हो, वह दुनिया से विदाई लेते समय क्यो व्यर्थ राम का नाम जपे ?

यह तो ध्रुव-प्रह्लाद-जैसे अबोध बच्चो का काम है, जिनके सुकुमार कन्धो पर न तो कोई जिम्मेदारी लदी होती है, न भला-बुरा सोचने-की कुछ समझ ही।

समाज ने तुम्हारे विरुद्ध पुरा काल मे न जाने क्यो यह काला कानून वना डाला था कि चौथे पन मे तप करना आवश्यक है, और घर से तुम कानूनन निकाल बाहर कर दिये जाते थे। सद्भाग्य है कि आज वह दुप्ट कानून रद हो गया। अब न तुम्हे तप की जरूरत है, न जप की। जप-तप तो अनाथ, अपाहिज लोग किया करते हे ; तुम्हारे जैसे पुत्र-पौत्रादि-सपन्न भाग्यवान वृद्व पुरुप नही।

फिर तुमने तो सारी जिदगी तप ही किया। गृहस्थी का भारी भार लादकर चलना क्या कोई मामूली तप है ? उस महातप का ही यह सुफल है कि वासना और तृप्णा-जैसी दैवी सम्पदाएँ तुम्हारे सामने आज हाथ वाँधे खडी हैं।

तुम्हारी जिम्मेदारी कम नही हुई, वल्कि कुछ वढी ही है। लडकों की अध-कच्ची वुद्धि पर तुम्हारा विश्वास नही। जिसने इतना लवा जमाना देखा हो, वह सहसा किसीपर विश्वास करे ही क्यो ?

तुम मानते हो कि तुम्हारे परिपक्व निर्णयो पर जो विश्वास नही करता, वह गलती करता है, क्योकि तुम्हारी दृप्टि मे वूढे आदमी जो भी निर्णय कर देते हैं, वह सदा विशुद्ध ही होता है।

तुम यह भी मानते हो कि लड़के किसी शुद्ध निर्णय पर पहुँच ही नही

सकते, और तुम्हारी व्याख्या के अनुसार वे सब लडके ही हैं, जिनकी उम्र तुम से कम है,—कम चाहे एक-दो साल ही क्यो न हो ।

युवक कहते हैं कि उनके 'अविनयी' बनने की बहुत-कुछ जिम्मेदारी तुम वृद्धो पर है,—तुम लोगो ने बलात्कारपूर्वक उनसे आज्ञापालन कराने का हमेशा ही प्रयत्न किया और इसीलिए वे तुम्हारे खिलाफ विद्रोही बन गये ।

तुम्हारा उत्तर बिल्कुल सही है कि युवको का यह आरोप भी पूर्ण अविनय से भरा हुआ है । तुम उसी युवक को विनयशील मानते हो, जो तुम्हारे सामने न तो आँख मिलाने की जुर्रत करता है, न मुँह खोलने की,—जो बुजुर्गों के निर्णय को कभी शका की दृष्टि से नही देखता, और उनकी बात का जवाब देना जो घोर पाप समझता है ।

ऐसे विनयशील पुत्र-पौत्रादि तुम्हारे भाग्य मे दुर्लभ है, अत कलि-युग को तुम प्रतिक्षण पानी पी-पीकर कोसते रहते हो,—वैसे ही, जैसे कि तुम्हारे पिता ने तुम्हे और तुम्हारे पितामह ने तुम्हारे पिता को कुपूत कहकर कोसा था ।

तब क्यो न यह सिद्धान्त स्थिर कर लिया जाये कि बालक और युवक हर जमाने के सब-के-सब कलियुगी ही होते है, और वृद्धजन सब-के-सब सतयुगी ?

बुढापे ने तुम्हारी दृष्टि को इतना तेज कर दिया है कि अनागत काल्पनिक खतरे को भी तुम बहुत दूर से देख लेते हो । इसीलिए दूसरो के किये पर तुम अत्यधिक आपत्ति करते हो । ऐसी कोई भी चीज तुम्हारी नजर से नही गुजरी होगी, जिसपर तुमने कोई-न-कोई आपत्ति न उठाई हो । प्रतिक्षण चेताते रहने का तो तुम्हारा मानो स्वभाव बन गया है ।

सलाह देना,—अवसर बिना चाहे ही—तुम्हे बहुत पसन्द है । सलाह भी तुम्हारी काफी लम्बी होती है । 'जरा देखो, कुछ सोचो और समझो'—ये बुजुर्गाना शब्द तुम्हारी सलाह मे जरूर रहेग । मौत कभी

तुम्हें बुलाने आयेगी, तो उस नासमझ को भी तुम शायद ऐसी ही नेक सलाह दोगे।

निरीक्षणों और अनुभवों का तुम्हारे सिर पर इतना भारी बोझ रखा हुआ है कि पैर मुश्किल से आगे को उठते हैं। कदम किसी तरह उठ भी गया, तो उसे आगे रखने में हिचक होती है। तुम्हारी परिमार्जित शंकाशीलता ने ही तुम्हें इतना अधिक सावधान बना दिया है!

तुम्हारी अनुभवसिद्ध सतर्कता का ही यह सुपरिणाम है, जो तुम हर बालक और हर युवक को सन्देह की ही दृष्टि से देखते हो। तुम्हारी यह वृद्धोचित धारणा बिल्कुल दुरुस्त है कि शंका या सन्देह से परे तो केवल एक तुम्हीं हो।

अपनी बात मनवाने में तुम बहुत ज्यादा जिद किया करते हो, क्योंकि तुम्हें भरोसा है कि तुम्हारे सफेद बालों ने और इस पोपले मुँह ने तुम्हें निस्सन्देह अन्तिम निर्णय पर पहुँचा दिया है, अतः तुम्हारी बात मान लेने में ही परमकल्याण है।

जगत् के प्रति तुम्हारी कल्याण-कामना इतनी अधिक बढ़ गई है कि युवकों को ही नहीं, बालकों को भी तुम अपने-जैसे ही समझदार, प्रशान्त और धीर प्रकृति के देखना चाहते हो। तुम्हें कैसा लगता होगा उन्हें देखकर कि वे इतने चुलबुले, इतने अधीर, इतने अल्हड़ और ऐसे नासमझ आखिर क्यों हैं?

पर तुम शायद तब यह भूल जाते हो कि अज्ञानसूचक उनके कृष्ण-केश अभी श्वेत कहाँ हुए हैं, अल्हड़ यौवन के प्रतीक दांत अभी कहाँ झड़े हैं, उद्धतता की निशानी कमर अभी कहाँ झुकी है?

तुम्हारे हृदय में रह-रहकर जलन पैदा होती होगी कि इन बालकों और युवकों में क्यों इतना उबाल या उफान आ रहा है! ये उद्धत उद्दण्ड प्राणी तुम्हारे ही जैसे शिथिलाङ्ग और शांत क्यों नहीं हो जाते!

तर्कवादी से

मानव-धर्म की धार पुरातन काल में शायद बहुत ही कुंठित रही होगी, जहन तब एकदम कुन्द रहा होगा। क्योंकि मामूली-से-मामूली चीज को भी तब का मानव अतर्क्य और अचित्य कह दिया करता था।

तब कहते थे कि जो वस्तु अतर्क्य हो, उसमें तर्क को खामखा मत भिडाओ। तर्कबुद्धि का प्रयोग करने से पहले ही वे उसकी असमर्थता या अगम्यता को स्वीकार कर लेते थे।

तुमने तब की उस दयनीय मन स्थिति को आज एकदम बदल दिया है। तर्क की सिल्ली पर घिस-घिसकर उसकी मोथरी धार को तुमने आज इतना तेज कर लिया है कि वह चाहे जिस पक्ष को काट सकती है। अत. आज न कोई वस्तु अकाट्य है, न कुछ अतर्क्य है, न अचित्य।

तुम्हारे युक्तिवाद के अस्त्र की धार दोनों ही ओर तेज है। अत. एक साथ ही दो-दो, तीन-तीन-पक्षों को काट देने की उसमें पूरी क्षमता

है। बुद्धि तब अत्यन्त दुर्बल होने के कारण सत्य और असत्य के बीच व्यर्थ ही उन लोगो ने एक ऊँची दुर्भेद्य दीवार खडी कर रखी थी। और इसी प्रकार स्याह और सफेद को एक दूसरे के विरुद्ध करार दे दिया था।

तुमने अब उस भ्राति-जाल को अपने तर्क शस्त्र से खण्ड-खण्ड कर डाला है। सत्य और असत्य के बीच तत्वत तुम कोई खास फर्क नही करते; और स्याह और सफेद को भी तुम वैसा परस्पर-विरोधी नही मानते। जगत् का इस प्रकार तुमने बहुत बडा उपकार किया है।

तुम चाहे जिस पक्ष को अपनी विलक्षण युक्तियो से सतेज कर देते हो। मानव-बुद्धि को तर्कवाद का शुद्ध आधार देकर तुमने अच्युत बना दिया है।

तुम्हारी यह नई शोध भी अभिनदनीय है कि बुद्धितत्त्व को आचरण-धर्म न मानकर केवल शास्त्रीयवाद का वाहन माना जाये। तुम्हारा विकास इसी कारण पूर्णतातक पहुँच गया है, कि तुम खालिस बुद्धि-वादी हो।

दलील को तुमने विचार-विनिमय के क्षेत्र मे इतना ऊँचा पद दे डाला है कि चितन, अनुशीलन, अनुभव और आचरण की आज वैसी कीमत नही रही।

तर्क की बेलिहाज कसौटी पर कसे जाने के भय से अदरूनी आवाज या आकाशवाणी सुनने या ईश्वर का आदेश पाने के अब वैसे हवाई दावे खडे नही किये जा सकते।

तुम्हारे युक्तिवाद ने सबसे बडा काम तो यह किया है कि किसीभी सिद्धान्त को उसने बिना अपवाद के नही रहने दिया। तुमने अपवाद के भी अपवाद खोज निकाले हैं, और सिद्धान्तो को अपवादो के स्तरो से इतना अधिक लाद दिया है कि वह सारा ही ढँक गया है।

युक्तिमान्य अपवादो ने सिद्धान्त या नियम को इतना अधिक लचीला बना दिया है कि कोई भी कडे-से-कडा व्रत बिना किसी हिचकिचाहट के

लिया जा सकता है, और उसे तोडा भी जा सकता है।

'करूँगा' के पहले एक 'प्रयत्न' शब्द जोड देनेमात्र से प्रतिज्ञा की किश्ती का तैरना एकदम आसान हो जाता है।

नये-नये अर्थों की गुंजाइश हर जगह रखने मे तुमने सचमुच भारी उदारता और दूरदर्शिता से काम लिया है।

और यही कारण है कि तुम्हारी अनेकमुखी भाषा मे 'परन्तु', 'यद्यपि,' 'सम्भवत ' 'शायद' 'लगभग' आदि लचकदार शब्दो की भारी भरमार रहती है। ऐसे ही, तुम्हारी 'हाँ' और तुम्हारी 'ना' का भी अर्थ सामान्य अर्थ से बहुधा कुछ भिन्न-सा ही होता है।

तुमने साबित कर दिया है कि बौद्धिक विकास की चकाचौंध रोशनी मे चाहे जैसी असगतियो को सगत सिद्ध किया जा सकता है।

तुमने अपने अपरास्त युक्तिबल से जगत् मे असम्भव या अशक्य कुछ भी नही रहने दिया। तुमने निराकार वस्तुओ का भी सगठन कर दिखाया; शून्य का भी बटोर-बटोरकर ढेर लगा दिया।

शायद ही ऐसा कोई सिद्धान्त, ऐसा कोई नियम नजर आता है, जिसके अनेकानेक अर्थ न किये गये हो। दलीलों के डर से अर्थ हमेशा काँपना ही रहता है, कभी स्थिरतातक नही पहुँच पाता।

प्राचीन काल के किसी तर्कशून्य कवि ने शरीर-सेवा को अविवेकी मनुष्य का धधा बताया था। तुमने आज उस विचार-धारा को उलट दिया है। तब शायद सुन्दर को सत्य तथा शिव के धुँधले दर्पण मे देखने का श्रमसाध्य प्रयास किया जाता होगा।

तुम शरीर-सेवा को और सुन्दर वेशभूषा को विवेकशील मनुष्य का 'धर्म' मानते हो। तुम्हारी दलील है कि आत्म-देवता तो स्वच्छ और आकर्षक है ही, स्वच्छ और परिष्कृत रखकर सजावट तो देह-मन्दिर की ही करनी है।

शृंगार को तब शृंगार ही कहते थे। विज्ञान के अभाव मे यथार्थ देखने की ही तब परिपाटी थी,—और ही कुछ सिद्ध करने के पक्ष में तब

कोई जोरदार दलील सामने नही आई थी। तुमने शृंगार को 'संस्कार' का मनोज्ञ नाम दे दिया है, और इस नये नामकरण ने नासमझ आरोपियो के आगे तुम्हे नितान्त निर्भीक बना दिया है। शरीरोपासना के प्रति उपेक्षा का तुच्छ भाव रखनेवालो को शायद इसीलिए आज असंस्कारी कहा जाता है।

अस्पृश्यता पर धर्म की छाप लगाकर जैसे उसे शास्त्रीय प्रतिष्ठा दे दी गई थी, वैसे ही तुमने बाहरी वेशभूषा को, संस्कृति का वाहन बनाकर, सामाजिक प्रतिष्ठा के आसन पर बिठा दिया है।

मनोविकारो की व्याख्याएँ भी तुम्हारी कुछ निराली ही है। जैसे, सामान्य लोग जिसे 'अनबन' कहते है, उसके लिए तुम्हारा तर्कशुद्ध शब्द 'मतभेद' है, यद्यपि जो विकसित होते-होते अनबन से भी आगे संघर्षतक पहुँच जाता है।

एक कठिनाई है। यह कि तुम्हारे कई रूप है, और कई हैसियते। दृष्टिकोण भी तुम्हारे अनेक है, यद्यपि आँख के यो दो ही कोण होते है। कमसमझ लोगो को अक्सर समझने या मतलब निकालने मे भ्रम हो जाता है कि तुम्हारा स्वरूप असल मे क्या है, किस हैसियत से तुम कब क्या मानते हो, किस समय क्या किस दृष्टिकोण से देखते हो ?

यद्यपि श्रद्धा या निष्ठा के लिए तुम्हारे अपने क्षेत्र मे कोई प्रतिष्ठा का स्थान नही रहा, तोभी जहाँतक तर्क की स्वतत्र सत्ता मे श्रद्धा कोई बाधा नही पहुँचाती, वहाँतक उससे फायदा उठाने मे तुम कोई हर्ज नही देखते।

श्रद्धा के फेर मे पडकर लोग जहाँ अतर्क्य वस्तुओ के भयकर बहाव मे बहे जा रहे थे, तहाँ तुमने उन्हे वस्तु-दर्शन की विविध दृष्टियाँ देकर स्वस्थ, शात या जड बन जाने से बचा लिया है। जगत् इस महान् उपकार के लिए तुम्हारा सदा कृतज्ञ रहेगा।

धर्मोपासक से

धर्मोपासक ! तो तुम्हारी तर्कवाहिनी वाणी वृद्ध धर्म की क्या सारी ही प्राण-शक्ति को खीच लेगी ? तुम्हारी गूढ उपासना किस तरह धीरे-धीरे अज्ञातरूप से धर्म का काया-कल्प करती जा रही है ! अद्भुत ! अद्भुत !!

प्राचीन काल मे तो इससे बिल्कुल उलटा ही हुआ था। तब के शोषक धर्म ने अपने उपासको के जीवन-तत्व का एक-एक बिन्दु खीच लिया था। ऐसी निष्ठुर उपासना से उनका अस्थि-कपालभर रह गया था। और उस अजीब प्रक्रिया को तब 'तप' कहा जाता था !

तब का उपासक या साधक प्राय क्षीणकाय होता था ; जब कि तुम्हारा आज का यह धर्म क्षीणकाय दिखाई देता है।

तुम्हारी नई-नई शोधो ने सिद्ध कर दिया है कि तब का रक्त-शोषक बलिष्ठ धर्म भी अरक्षित था , जब कि आज का शोषित दुर्बल धर्म सुरक्षित है। तुम मानते हो कि असल बल तो 'उपासक' का बल है, धर्म का 'अपना' बल कोई बल नही।

धर्म का शोषण कर तुमने अरक्षित धर्म को सरक्षण दिया है। तुम्हारे कृतज्ञता-पाश मे धर्म कुछ ऐसा बँध गया है कि तुम्हारे आदेशो से वह कभी बाहर जा नही सकता।

पहले के उपासको पर शासन धर्म का रहता था , आज शासन उसपर तुम उपासको का है, और इसी कारण वह पूर्ण सुरक्षित है।

तुम्हारी शोधो और प्रयोगो के पूर्व धार्मिक जगत् के लोग मानते थे कि धर्म स्वत अपने आपसे रक्षित है। कहते है, धर्म की रक्षा तब धर्म से ही होती थी।

पर यह उनका भ्रम ही सिद्ध हुआ। साथ ही, इसमे कोई पुरुषार्थ भी तो नही था। यह श्रेष्ठ श्रेयस्कर आविष्कार तो तुमने किया कि धर्म की रक्षा अधर्म से भी हो सकती है, और हो रही है।

तुमने अनुभव किया कि तमस् और प्रकाश के बीच क्यो खामखा वैर या विरोध रहे। तुमने अपने धर्म-बल से दोनो को एक दूसरे की छायातले सहज ही प्रतिष्ठित कर दिया !

प्राचीन धर्म-शोधको के तो प्राय सारे ही प्रयत्न उलटे हुआ करते थे , उनकी साधना जैसे एक अतुकान्त कविता थी। और फिरभी उसे वे सनातन-सिद्ध कहा करते थे ! जैसे, वे अवैर से वैर का, अक्रोध से क्रोध का और अहिसा से हिंसा का शमन करना सिखाते थे !

मूल भूल उनकी तब, शायद, यह रही होगी कि अक्रोध, अवैर, अहिसा-सरीखी नकारात्मक वस्तुओ को उन्होने 'धर्म' मान लिया था। सहज को छोडकर असहज की ओर दौडना, भला, यह भी कोई धर्म-साधना है ?

इसी तरह एक और गलत रास्ता अँधेरे में उन लोगो ने पकड लिया

था। यह कि अर्थ और काम को भी वे धर्म से ही साधते थे , जब कि तुम्हारी धर्म-साधना अर्थ और काम के द्वारा सम्पादित होती है।

तब के लोग तो धर्म द्वारा असल मे अपने आपकी रक्षा करना चाहते थे , धर्म को उन्होने इतना बलिष्ठ मान रखा था, कि उसकी रक्षा की उनको कुछ भी पर्वा नही थी।

उनकी दृष्टि मे अरक्षित धर्म अपनी व्याख्या स्वय निर्माण करता था, जब कि उसकी व्याख्या आज तुम्हारी स्वरचित युक्तियो द्वारा निर्णीत की जाती है। यह क्या कोई मामूली विकास हुआ है ?

तर्कबल के अभाव मे तब कोरे आचरण से काम लिया जाता था। 'धर्म चर' का एक धुँधला-सा दीपक उनके हाथ मे रहता था। कोरे शुष्क आचरण पर वे तर्क-दुर्बल साधक भारी जोर दिया करते थे।

तब फिर वह अरक्षित धर्म अपने जड साधको को किस प्रकार समृद्ध और सुखी बना सकता था ? तभी तो वे 'ऋषि-सज्ञक' विचित्र प्राणी पर्ण-कुटियो और गिरि-कदराओ मे वन्य मनुष्यो या पशुओ की तरह पडे रहते थे। ऐसे क्षीणकाय दरिद्रो की सपदा कौपीन और कमडल के सिवाय और हो ही क्या सकती थी ?

तुम मानते हो कि धर्म तो मूलत अशक्त है—उसमे इतनी शक्ति कहाँ कि वह स्वय अपनी रक्षा कर सके ? इस तर्कशुद्ध मान्यता मे भला कौन गलती निकाल सकता है ?

नीति-बल से क्या कभी धर्म की रक्षा हुई है ? वह तो युक्तिबल से और शरीर-बल से ही होती है।

तुम्हारा यह कहना दुरुस्त है कि वे दूसरे धर्मोपासक भी तो ऐसा ही कहते और करते है। वे भी तो द्वेष, द्रोह, कूट, भेद और हिसा को धर्मानुष्ठान मे आलिगन देते है। ईश्वर उनके वश मे है,— उनके ऊपर वह आशीर्वाद के विविध फूल बरसाता है, और उनके शत्रुओ पर नरक की आग।

किस काम का वह धर्म, जो अर्थवाद मे हमारा समर्थक और साधक

न हो, जो काम-काचन के निष्ठुर निग्रह से उपलब्ध होता हो, और हमारे शत्रुओ को जो हमारे अपने शब्दो मे अभिशाप न दे सके ?

तुम्हे लगता है कि धर्म इसीलिए खतरे मे पड गया था कि राज-नीतिक स्वार्थो मे उसका पूरा प्रयोग नही हुआ, द्वेष और हिसा से उसे यथेष्ट पोषण नही मिला।

तुम्हारी यह धारणा सर्वथा सही है, कि सत्यता, दया, क्षमा और अहिसा ने धर्म को निर्वीर्य कर डाला है, और यही कारण है कि उसका अस्तित्वतक आज खतरे मे पड गया है।

परन्तु तुमने निश्चय ही उसे विनाश के मुख मे जाने से बचा लिया। अच्छा हुआ कि तुमने द्वेष का सजीवन-बीज बो दिया और तुम्हारे सत्-प्रयत्न से बुद्धि-भेद पैदा हो गया। समता के प्रति उपेक्षा पनप उठी है। मनुष्य मे प्रतिहिसक वृत्तियाँ जाग रही है। राज-नीति और अर्थवाद ने निष्प्रभ दुर्बल धर्म को अब तेजस्वी और शक्तिशाली बनाने का निश्चय कर लिया है।

तुम्हारे मत से धर्म के ह्रास का एक जबर्दस्त कारण उसके साधकों की 'निष्काम' या 'अहेतुक' साधना भी तो है।

प्रथम तो दया को धर्म का मूल घोषित करना, और फिर उसका प्रयोग करते हुए किसी प्रकार का कोई 'हेतु' न रखना—ऐसी निरर्थक साधना से आखिर लाभ ही क्या ?

तुम्हे यह सत्य स्पष्ट हो गया है कि फल या फायदे का विचार किये वगैर धर्म का आचरण कर बैठना निरी मूर्खता है।

अनासक्ति का उपदेश करनेवाला धर्म आसमानी कल्पना की ब्राह्मी सपत्ति को भले ही घर-बैठे प्राप्त करादे, परन्तु प्रत्यक्ष मे तो ऐसा धर्म चार पैसे का भी फायदा नही करा सकता।

इसीलिए तुम जब धर्म की रक्षा का जिम्मा लेते हो, तब सबसे पहले उसे 'लाभवाद' की अचूक कसौटी पर कस लेते हो।

—काफी है इतना कि तुम्हारा साध्य तुम्हारी अपनी मान्यता या विश्वास के अनुसार शुद्ध है। तुम्हे चिंता नही कि साधन तुम्हारे शुद्ध हैं या अशुद्ध। धर्म बच जायेगा, तो साधन तो अपने-आप शुद्ध हो जायेंगे। पुराना विचार यह गलत है कि धर्म की दृष्टि से देखा जाये, तो साध्य और साधन मे कुछ भी अन्तर नही, दोनो एक ही है। कतिपय व्यवहार-मूढ ऋषियो की ही यह विचित्र विचार-धारा रही होगी।

मन्त्रो के जो स्रष्टा या दृष्टा थे उनका शायद व्यवहार-व्यापार से बहुत कम सबध रहा होगा। उन्हे इस बात का पूरा पता नही था कि किन-किन साधनो से धर्मोपासक को लाभ पहुँच सकता है। कम-से-कम तुम पुरातत्त्व-शोधको को कही भी ऐसा कोई आर्प प्रमाण नही मिला।

तुमने देख लिया कि धर्म का बहुत अधिक आग्रह रखना अच्छा नही। आग्रह रखना तो तुम्हारी दृष्टि मे जडता का लक्षण है, धर्म मे चिपटे रहने मे बुद्धिमानी नही। धर्मोपासना तो एक सुविधा की चीज़ होनी चाहिए,—ऐसी कि, उसे चाहे जब हल्की मुट्ठी से पकडा जा सके और चाहे जब त्यागा भी जा सके।

सामान्य धर्म को कुठित बुद्धिवाले आरण्यको ने देश काल-परिस्थिति की परिधि से बाहर माना था, और उससे सदा ही चिपटे रहने का आदेश दिया था। निश्चय ही अपरिपक्व बुद्धि की सूझ रही होगी यह। विशेप धर्म के प्रति किसी अशतक आग्रह रखने की बात तो कुछ समझी भी जा सकती है, किन्तु यह सामान्य धर्म के प्रति आग्रह रखने की बात तो अद्भुत ही है।

तुम्हारी धर्मोपासना तो तुम्हारी अपनी निर्मित परिभापा और तुम्हारे ही अपने भाप्य का अनुसरण करेगी, कारण कि उसमे चेतना है, गुजाइश है और खासी अच्छी सुविधा है।

अत. धर्मोपासक ! तुम्हारा ही मार्ग राजमार्ग है।



चिकित्सक से

चिकित्सक ! तुम्हे सारा जगत् जैसे एक-न-एक रोग से ग्रस्त ही नज़र आता है। मनुष्य-शरीर का पुर्जा-पुर्जा तुम्हे ढीला-ढाला और अस्तव्यस्त सा ही दीखता है। और उनको कसने की या फिर से अपनी-अपनी जगह पर बिठाने की तुम्हे अहर्निश चिता रहती है। मगर गनीमत है कि उस सतत चिंता मे भी तुम्हे आनन्द का ही अनुभव होता है।

निरन्तर विविध रोगो के सम्पर्क मे रहते-रहते तुम्हे आरोग्य का शायद कभी भान भी नही होता होगा। स्वस्थ मनुष्य शायद तुम्हे अजनबी-सा ही लगता होगा।

मनुष्य निसर्ग के ससर्ग मे रहे, यह तुम्हे शायद ही पसन्द हो। तुम नही चाहते कि सर्वसृष्टि-श्रेष्ठ मानव-प्राणी वन्य पशुओ का अनुकरण करे। तुम मानते हो कि प्रकृति के सहारे स्वस्थ बने रहने मे कोई तारीफ नही, कोई पुरुषार्थ नही। पुरुषार्थ तो तब, जबकि निसर्ग के नियमो की अवज्ञा कर रोगो को आमन्त्रित किया जाये और फिर चिकित्सा के अस्त्र-शस्त्रो द्वारा उनका अच्छी तरह डटकर मुकाबिला हो।

और, निसर्ग की अवहेलना करने मे मनुष्य को तुम, खास करके शहरो मे, खासा प्रोत्साहन देते हो। तुम्हारे बल पर मनुष्य आज प्रकृति के कानून का मूल्य कुछ भी नही आँक रहा।

पशु मे इतना साहस कहाँ कि वह प्रकृति के विरुद्ध जरा भी जा सके। उस अपूर्ण प्राणी मे अबभी इतना बौद्धिक विकास नही हो पाया कि स्वास्थ्य-रक्षक नियमो को वह धता बता सके। दुर्भाग्य है उसका, जो उसे निर्भय बनानेवाला कोई चिकित्सक नही मिला।

और यह मनुष्य निर्भय कैसे बन गया ? क्योकि पहले तुमने कदम-कदम पर उसके अन्दर भय का सचार किया,—जैसे धूप और सरदी मे खुले बदन घूमना खतरे से खाली नही, ओस के नीचे सिर खोलकर सोना हानिकारक है, पानी, हवा और मिट्टी का यह अधिक संसर्ग भयावह है।

मनुष्य ने विकास को पाकर यह भारी बुद्धिमानी का काम किया कि प्रकृति की गोद को छोडकर वह तुम्हारी निर्भय शरण मे आ बैठा।

और यही कारण है कि तुम्हारा अस्तित्त्व आज उसे अत्यन्त आवश्यक हो गया है; मानव-जीवन के वस्तुत तुम एक अविच्छिन्न अग बन गये हो।

सद्भाग्य से तुम्हे ऐमे भी कुछ समझदार मिल जाते है जिन्हे कि किसी-न-किसी दवा का नियमित सेवन करने, या वर्ष मे एक-दो बार शरीर-यन्त्र की आवश्यक परीक्षा कराने की तुम सलाह देते रहते हो।

परन्तु शिक्षित और श्रद्धालु लोग तो खुद ही नियत भेट लेकर तुम्हारे द्वार पर नेक सलाह लेने पहुँच जाते है।

तुम जब रोगी के शरीर-यन्त्र का परीक्षण करते हो, तब तुम्हारी मुख-मुद्रा गम्भीर हो जाती है। जब तुम उसे परीक्षण का सुपरिणाम सुनाते हो, उसका चेहरा सफेद पड जाता है। उसे प्रतीत होने लगता है कि उसके फडफडाते हुए प्राण-पक्षी अब तुम्हारे ही हाथ मे है।

नये-नये रोगो की खासी लबी फेहरिस्त पेश करके उसकी मनोव्यथा बढाने मे तुम कुछ उठा नही रखते। कभी तो वह ध्यान करता है आसन्न मृत्यु का और कभी तुम्हारा।

कभी वह तुममेसे किसी एक विशेपज्ञ का दरवाजा खटखटाता है, तो कभी किसी दूसरे का। वह एक रोग बतलाता है, दूसरा कुछ और ही। एक चीर-फाड कराने की सलाह देता है, दूसरा दॉत उखडवाने की और तीसरा सारा काम-काज छोडकर समुद्र-तट पर या किसी पहाड पर पूर्ण विश्राम लेने की।

रोगी तब अजीब चक्कर मे पड जाता है। आधी इसकी सुनता है, आधी उसकी। बाद मे कभी-कभी यह भी सिद्ध होता है कि रोग उसे कुछ भी नही था—उसकी एक-एक हड्डी तो तुम्हारे प्रदत्त चिता-रोग से ही घुल रही थी।

फिर भी शरीर-यन्त्र के कितने ही पुर्जो की मरम्मत, अपना घरबार बेचकर भी, कराने के लिए वह श्रद्धावान् मरीज तैयार हो जाता है।

शरीर के अन्दर का छाया-चित्र लेकर कभी-कभी तुम रोगी का विषैला अग काट डालने की निस्सकोच सलाह दे डालते हो, किन्तु कोई-कोई ऐसे मूढग्राही होते है कि मृत्यु का जोखम मोल लेकर भी मरीज

का पैर या हाथ कटवाने को राजी नही होते ! देखा गया है कि कभी-कभी मामूली तेल-मालिश से ही वह अच्छा हो जाता है, और जिंदगी-भर के लिए अपग हो जाने के परमसुख से उसे वचित रह जाना पडता है ।

पर कोई दुर्भाग्य का मारा अपने हाथ या पैर से अथवा प्राणो से ही हाथ धो बैठे, तो उसके तुम थोडे ही जवाबदेह होगे । तुम्हारे लिए तो इतना ही काफी है कि तुम्हारी परीक्षा अद्यतन वैज्ञानिक शोध का परिणाम थी और तुम्हारा हेतु भी परमशुद्ध था ।

तुम्हारे सद्भाग्य से कभी कोई सक्रामक रोग फैलता है, तो तुम्हे क्या तब मगलोत्सव का अनुभव नही होता ? किसान को जैसे वाछित समय पर वर्षा होने से महान् आह्लाद होता है, कुछ-कुछ वैसा ही आनन्द और उल्लास तुम्हे सक्रामक रोगो के भयकर प्रकोप से होता होगा । उन दिनो घर-घर तुम्हारा स्वागत-सत्कार होता है ।

कितने ही घरो मे तुम्हारी हितकारी सलाह की भारी कद्र होती है । कैसे पानी से नहाये, कहाँ सोये, क्या खाये, क्या पीये, क्या पहने आदि गूढतम प्रश्नो पर वे तुम्हारी सलाह लेना, क्योकि, वे बहुत ज़रूरी समझते है ।

उनका स्वास्थ्य मकडी के जाले के जैसा नाजुक बन जाता है ।

सयत जीवन का वहाँ प्रवेश निषिद्ध हो जाता है । परिणामत तुम्हारे कई शुभचितक मित्र वहाँ पहुँच जाते है,—जैसे मदाग्नि, मधुमेह, रक्तचाप, दमा, हृद्रोग, राजयक्ष्मा आदि ।

तब दिन मे कई बार ताप-मापक यत्र का प्रयोग होने लगता है । दीवार पर तालिका टाँग दी जाती है, मल-मूत्र की परीक्षा शुरू हो जाती है, शरीर काँटे पर बार-बार तोला जाता है, अन्तर्चित्र उतरने लगते है, आलमारी शीशियो से भर जाती है—सारा ही वातावरण भयोत्पादक बना दिया जाता है ।

दवाखानो और अस्पतालो की सख्या जिस तरह दिन-ब-दिन बढती जाती है, उसे देखकर स्वस्थ मानव-सभ्यता के विकास का माप आसानी से किया जा सकता है।

चिकित्सालयो के सचालकगण जब बडे गर्व से सुनाते है कि उनके मरीजो की सख्या क्रमश कितनी बढ गई है, तब तुम्हारे अथक, अकथ प्रयत्नो का ठीक-ठीक पता चलता है कि तुमने अस्वस्थ मानव-समाज को कितना अधिक आरोग्य प्रदान किया है।

तुम्हारा अद्भुत गणित रोगो की वृद्धि और दवाइयो की खपत से समाज के आरोग्य का माप निकालता है।

किसी-न-किसी व्याधि से मनुष्य पहले भी मरता था, पर मरना तब वह जानता नही था। उसे या उसके आसपासवालो को मृत्यु के आगमन का शायद कुछ-कुछ भान हो जाता था। तब औषधियो की उपेक्षा कर दी जाती थी, और ईश्वर को ही वैद्य का स्थान दे दिया जाता था। रोगी की चारपायी के पास भगवान् का नाम जपने लोग बैठ जाते थे, और दान पुण्य होने लगता था।

किन्तु तुम तो आज दूसरा ही दृश्य उपस्थित कर देते हो। आखिरी साँसतक तुम प्रयत्नशील रहते हो। तुम्हे यह पसन्द नही कि रोगी शाति-पूर्वक प्राण छोडे।

उस काल तुम आक्सिजन का सचार करते हो। तुम मानते हो कि धर्म-ग्रन्थो के पाठ से या ईश्वर के नाम-स्मरण से तुम्हारे रचे सुन्दर वातावरण मे खलल पहुँचता है। उस प्रयाणशील प्राणी के सामने तुम्हारी आकृति घूमती रहती है और कदाचित् तब तुम्हे ही वह भय से आक्रान्त होकर देह से जीव का नाता छुडानेवाला समझ बैठता हो।

और, अब अपने आपसे

और, अब कुछ अपनी भी तो कह डाल। तू खुद किस बात में किसीसे कम है? उन सबका इतना स्तुति-गान किया, तो कुछ अब अपना भी तो कर ले। आत्म-स्तुति को तूने कभी उपेक्षणीय तो माना नहीं।

जिन बहुत-से सद्गुणो को निर्दयतापूर्वक गलती से 'लोक-निन्दित' ठहरा दिया गया है, उन्हे भी तेरे साधु हृदय ने प्रीतिपूर्वक अगीकार किया है। तेरी इस सहज सहृदयता की, ऐसा कौन है, जो स्तुति नही करेगा ?

तेरे अन्तर मे असतोष की जो आग सुलग रही है, उसपर प्रतिक्षण तू उपेक्षा का पानी डालता रहता है। विचारो का वहाँ केवल धुआँ ही उठता है, और उस धुएँ को तू बडी होशियारी से इर्द-गिर्द के वातावरण मे इधर-उधर उडा देता है।

उस आग से तेरा अन्तर कही जल न जाये, इस बात का तुझे सदा ध्यान रहता है, और इसीलिए अपनी खुद की व्याख्यावाली शान्ति तुझे अत्यन्त प्रिय है।

लोग मन मे कहते होगे, कि तुझे निवृत्ति का मार्ग पसन्द है, और तू स्वय भी कभी-कभी ऐसा ही कह बैठता है। पर तेरी विनय का कुछ पार ! तू कितनी ही लोग-निन्दित प्रवृत्तियो पर आसक्त है, फिरभी तू इतना अधिक विनयशील बन गया है कि अपने उस महान् गुण को कभी किसीपर प्रकट ही नही होने देता।

तू किसीका भी जी नही दुखाना चाहता, तभी तो जिन बातो पर तेरा तनिक भी विश्वास नही, उनपर भी तू दूसरो के प्रीत्यर्थ श्रद्धाभाव प्रकट कर दिया करता है !

तू सचमुच स्वात्मत्यागी है। जिन लोगो से तेरा हार्दिक मतभेद होता है, उन्हे भी प्रसन्न रखने के लिए अपनी आत्मा की आवाज पर तू ध्यान नही देता। अपरिचित मतो के पीछे भी तू पैर घसीटता रहता है।

अन्तरात्मा कभी-कभी तेरी कटु आलोचना कर बैठती है, तो तू उसपर कान नही देता, क्योकि तू अपनी श्रवणेन्द्रिय पर कम-से-कम उस अवसर पर अवश्य विजय पा लेता है।

परनिदा का स्वाद कटु कहा गया है, पर तू तो अस्वादव्रती ठहरा न ? इसलिए रस तुझे उस तीखी कडवाहट मे भी मिलता है।

तू क्योंकि आत्मोसाधक ठहरा, आत्मोपासक ठहरा, अत आत्मनिंदा सुनकर तुझे कभी क्रोध आ जाये, तो उसमे ऐसा क्या अनुचित हुआ ?

तेरी गुणग्राहकता से भला कौन इन्कार कर सकता है ? जब तू अपना स्तुति-पाठ श्रवण करता है, तब ऐसा भाव प्रकटाता है, मानो सकोच के मारे गड़ा जा रहा है, पर अन्दर-अन्दर तू बेहद पुलकित और हर्षविह्वल हो जाता है ।

कितना बडा अहिंसक है तू, जो तिरस्कारपात्र गुणो को भी तूने अपनी अन्तर्गुहा मे प्रेम का स्थान दे रखा है ! यह तेरी सादगी ही है कि लोक-दृष्टि से छिपाकर अपने जीवन की हजार छेदवाली चादर को बडी ममता से ओढे हुए बाजार मे तू बैठा है । इस चतुराई पर तू अपने आप मुग्ध है, कि दूसरो को अपनी हजार छेदवाली चादर का कभी पता नही लगने देता । लोग वे तेरी मैली चादर को भी धौली समझ रहे है ।

तुझे अपरिग्रह पर प्रवचन देना बहुत प्रिय है, यद्यपि तू अपने पास ढेर-का-ढेर रखता है । अपनी आवश्यकताओ की मर्यादा तूने ऐसी बना रखी है, जो तेरी दृष्टि मे परिग्रह का स्पर्श भी नही करती है ।

जब कभी तेरे करुणार्द्र हृदय मे दो बूँद दूध के लिए कलपते अस्थि-पजर बच्चो का ध्यान आ जाता है, तब तेरे सेवापूत आँसू तेरी दूध की प्याली मे टपक पडते है । पर अपनी करुणशीलता कायम रखने के लिए तुझे वह खारा दूध भी अनासक्तिपूर्वक पीना पडता है ।

तू दूसरो के लिए कष्ट उठाना खूब जानता है । जैसे, दूसरो की आलोचना करने मे कितना ही कष्ट उठाना पडे, स्वधर्म समझकर उसमे तू क्लेश नही मानता । तेरा कोमल हृदय नही चाहता कि दूसरे तेरी आलोचना करने का कष्ट उठाये ।

प्रयत्नशीलता मे तेरा अटूट विश्वास है । अपने सकल्पो के धागे को तू रोज ही तोडता है, और रोज उसे बार-बार जोडने का प्रयत्न करता है ।

अद्भुत है रे, तेरी जीवन-यात्रा ! तू जाना तो चाहता है उत्तर

दिशा को, और पैर रखता है दक्षिण दिशा की ओर।

दूसरो की सग्रह-वृत्ति को देखकर तेरे हृदय मे आग-सी जलती रहती है कि वे सयमी और वैराग्यशील नही है। इस आग को तू यज्ञ की पवित्र अग्नि मानता है। पर तेरे सामने यदि सग्रह का शीतल साधन आ जुटे और वह तेरी अन्तर्ज्वाला को बुझादे, तो तुझे उससे असतोष नही होगा।

तू अपने विचारो में कभी स्थिरता या जडता का प्रवेश नही होने देना चाहता, इसीलिए तेरे विचार सदा पारे की तरह कपित या अस्थिर रहते है।

त्याग मे तू वही रसास्वाद पाता है, जो कि मनुष्य को मिर्च मे मिलता है। तेरी समझ मे नही आता कि मुमुक्षुओ ने त्याग को मधुर स्वादवाला आखिर क्यो कहा था। त्याग द्वारा तामसी वृत्ति को उत्तेजित करके तूने कोई कम धर्म-साधना नही की।

तेरा यह गजब का साहस ही है, कि गॉठ मे अनुभवो और विचारो की कुछ भी पूँजी नही, फिरभी बोलने और लिखने के व्यापार मे तू खूब दूरतक जाना चाहता है।

लोग जब कहते है कि तेरा जीवन-रस लोक सेवा मे प्रतिक्षण खर्च हो रहा है, तो वास्तविकता को जानते हुए भी उनकी बात को तू काटता नही, क्योकि तेरी दृष्टि मे ऐसा करना अविनय है—वल्कि हिंसा-कृत्य है।

किन्तु जहॉ तू आत्म-निन्दा सुनता है, वहॉ उसका काटना तेरा धर्म हो जाता है। उसे तू शुद्ध अहिसा मानता है। धर्म का तत्त्व बडा गहन है, और उसकी गहनता को तूने इस प्रकार हृदयगम कर लिया है।

तू उस प्राचीन सूत्र को नही मानता कि त्याग का परिणाम सतोष है। तू तो त्याग का शीतल रस पान करते समय ईर्ष्या की आग को अपने अन्तस्तल मे प्रज्वलित कर लेता है।

दूसरो के कितने ही नये-पुराने विचारो और शोधो को तू इतना अधिक प्यार करता है, कि उनपर अपने नाम की छाप लगा देता है—वे उनके न रहकर तेरे अपने खुद के हो जाते हैं ।

फिर उदार तू इतना अधिक है कि छोटी-छोटी चीजो को भी वडी-से-वडी समझ लेता है, पर अपने तईंतक ही तूने इस अति उदारता को परिसीमित रखना धर्म समझा है । जैसे, तू साधारण-सा ही पठित है, ज्ञान तेरा नगण्य-सा ही है, अनुभव का भी लगभग अभाव ही है, फिर-भी तू अपने आपमे कोई हीनता नही देखता । 'अहं ब्रह्म' वादी की भाँति तू अपने आपको समस्त विद्या, ज्ञान और पूर्ण अनुभव का मूलस्रोत समझता है ।

जव तुझे किसी प्रश्न का कोई ठीक-ठीक जवाव नही सूझता, तव तू गम्भीर-सी मुद्रा वना लेता है । प्रश्नकर्त्ता समझते है कि तू किसी गहरे चितन मे डूवा हुआ है और तेरा काम वन जाता है ।

जव तू एक वर्ग या समूह की टीका-टिप्पणी करता है तव इतना तो तुझे मालूम रहता ही है कि उस वर्ग मे भी कुछ ऐसे है, जो तेरी टीका-टिप्पणी से परे हैं । फिरभी तेरी लपेट मे कभी-कभी अपवादरूप अल्प-सख्यक भी आ जाते हैं ।

पर तू स्वय अल्पसख्यको के दल मे है या कि वहुसख्यको के दल में तू वडी चतुराई से कभी उसमे मिल वैठता है, तो कभी इसमे ।

तूने जिनकी भी टीका की प्राय प्राचीनो को सभी जगह वख्श दिया है । पर तुझ-जैसे तो जैसे अव हैं, तैसे ही तव भी थे इस तथ्य को क्या तू नही जानता ?

जानता हो या न जानता हो, अव अधिक वकवास मत कर । जिस-जिसके प्रति गुस्ताखी प्रकट की है, उन सवमे अव तो तू प्रेमपूर्वक विदा ही ले ।